नागरीप्रचारिणी पत्रिका

(त्रैमासिक)

वर्ष ५२—अंक २ [नवीन संस्करण] सं० २००४

श्रावण-आश्विन

विषय-सूची

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

विषय

रक्षण तथा प्रसार।
वेचन।
नुसंधान।
। और कला का पर्यालोचन।

संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सहायक

शिवनाथ

विशेष सूचनाएँ

(१)

'सभा' की प्रबंध-समिति ने ७ ज्येष्ठ, सं० २००४ के अधिवेशन में निश्चय किया है कि जिन परिवारों में एक से अधिक व्यक्ति 'सभा' के सभासद हों उनमें से एक को छोड़कर शेष व्यक्तियों को चंदे के अतिरिक्त १) और देनेपर 'सभा' द्वारा प्रकाशित ५) अंकित मूल्य की पुस्तकें 'पत्रिका' की जगह मिल सकेंगी।

(२)

साधारण सभा के शनिवार, १० श्रावण, सं० २००४ के अधिवेशन में यह निश्चय हुआ कि 'सभा' की साधारण सदस्यता का चंदा अगले साल से ३) से ५) कर दिया जाय।

मूल्य प्रति अंक २॥)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५२—अंक २ [नवीन संस्करण] श्रावण-आश्विन—सं० २००४

उर्दू की हकीकत क्या है

श्री चंद्रबली पांडे

आज विश्व भर में जो बात सत्य मानी जाती है, पर जिसके सत्य होने का कोई प्रमाण नहीं, वह यह है कि उर्दू हिंदू-मुसलमान के मेल से बनी और लश्कर या बाजार मे पैदा हुई। कारण यह है कि सन् १८०० ई० में कंपनी-सरकार के कर्मचारियों अथवा अँगरेजी सरकार के गोरे नवाबो की शिक्षा-दीक्षा के लिये जो पाठशाला फोर्ट विलियम मे स्थापित हुई और जिसका नाम आगे चलकर 'फोर्ट विलियम कालेज' के नाम से ख्यात हुआ, उसमे कुछ ऐसा पाठ पढ़ाया गया कि सभी इस मत के मुरीद हो गए और चारो ओर जैसे-तैसे इसी का प्रचार करने लगे। कहने की बात नहीं कि यह बात मीर अम्मन देहलवी की खोपड़ी में उपजी और फिर वहीं से घर घर फैल गई। ध्यान देने की बात है कि उस समय के हिंदी प्रोफेसर श्री जान गिलक्रिस्त साहब ने मीर अम्मन देहलवी से कहा कि

इस किस्से को ठेठ हिंदुस्तानी गुफ्तगू में जो उर्दू के लोग हिंदू-मुसलमान, औरत-मर्द, लड़के-बाले, खास वो आम आपस में बोलते-चालते हैं तरजुमा करो।[1]

श्री जान गिलक्रिस्त ने 'ठेठ हिंदुस्तानी' के साथ ही 'उर्दू के लोग' का नाम क्या लिया मियाँ मीर अम्मन 'दिल्लीवाल' को बहुत कुछ बता दिया। मीर अम्मन ने देखा कि जब तक 'उर्दू की जबान' सब की जबान नहीं हो पाती तब तक वह ठेठ हिंदुस्तानी के रूप में कैसे प्रसार पा सकती है। निदान बहुत कुछ सोच समझकर लिख ही तो दिया—

१—बाग-वो-बहार की भूमिका।

हकीकत उर्दू की जबान की बुजुर्गों के मुँह से यों सुनी है कि दिल्ली शहर हिंदुओं के नजदीक चौजुगी है। उन्हीं के राजा-प्रजा कदीम से वहाँ रहते थे और अपनी भाखा बोलते थे। हजार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुलतान महमूद गजनवी आया। फिर गोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमद व रफ्त (आने जाने) के बाइस (कारण) कुछ जबानों ने हिंदू-मुसलमान की आमेजिश (मिलावट) पाई।

हिंदू-मुसलमान के मेलजोल की नीवें पड़ गई तो मीर अम्मन को इस जबान के नाम की चिंता हुई। कारण कि यही अधिक जटिल था। उनको इसे भी किसी प्रकार मेल-मिलाप का परिणाम ही सिद्ध करना पड़ा। सो कैसे? तो इसे भी टुक देख लें। किस चालभरी वाणी में लिखते हैं—

आखिर अमीर तैमूर ने [जिनके घराने में अब तलक नामनिहाद (नाम मात्र) सलतनत (राज्य) का चला जाता है] हिंदुस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर में दाखिल हुआ। इस वास्ते शहर का बाजार उर्दू कहलाया।

मीर अम्मन के बाप-दादों को इतिहास का ऐसा ही पता था, यह तो मानने को जी नहीं चाहता। कहा जा सकता है कि मीर अम्मन ने भूल से बाबर के स्थान पर अमीर तैमूर का नाम लिख दिया है। हो सकता है, परंतु हमारी समझ में खरी बात तो यह है कि कतिपय कारणों से यहाँ के मुगल बादशाह अपने को बाबरवंशी न कहकर तिमूरवंशी ही कहते थे और फलतः इस वंश का नाम भी तिमूरवश के रूप में जगा। उधर 'उर्दू' का संबंध इसी वंश से माना जाता था। निदान गोरे प्रभुओं के मन की ताड़कर मीर अम्मन ने अमीर तैमूर का नाम लिया और उसके द्वारा उर्दू को 'लश्कर' और 'बाजार' में ला दिया। 'उनके आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर में दाखिल हुआ' में जो बात कही गई है वह यह दिखाने के विचार से ही कि क्यों 'शहर का बाजार उर्दू कहलाया।' परंतु वस्तुस्थिति यह है कि उस समय दिल्ली में कोई इस नाम का बाजार ही न था। जो हो, अभी दिखाना तो यह है कि किस प्रकार मीर अम्मन अपना चक्र चलाते और विश्व को मोह लेते हैं। देखिए, इसके आगे फिर आपका कहना है—

जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठे तब चारों तरफ के मुल्कों से सब कौम. हुजूर में आकर जमा हुए। लेकिन हर एक की गोयाई (बातचीत) और बोली जुदी थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदा-सुल्फ, सवाल-जवाब करते एक जबान उर्दू की मुकर्रर (निश्चित) हुई।

अकबर बादशाह के मेलजोल की नीति से कैसा लाभ उठाया गया है पर इस बात का तनिक भी ध्यान नहीं रखा गया है कि अकबर बादशाह की राजधानी आगरा था न कि दिल्ली और उसने स्वयं ब्रजभाषा में रचना की है न कि 'उर्दू की जबान' में। ऊपर जिस 'आमेजिश' का नाम लिया गया और जिस मेल-मिलाप और बात-व्यवहार की दुहाई दी गई है उसी का यह सरल परिणाम है कि फारसी में हिंदी और हिंदी में फारसी शब्द धड़ल्ले से आने लगे। रही 'एक जबान उर्दू की मुकर्रर हुई', सो इसके विषय में कहना यह है कि इस समय ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। कारण यह है कि इस

समय 'लश्कर' और 'बाजार' याने 'उर्दू' का संघटन वह नहीं था जो प्रमादवश आज हमें मीर अम्मन के द्वारा बताया जा रहा है। लीजिए अल्लामा अबुलफजल की साखी आपके सामने है। देखिए किस ठिकाने से लिखते हैं—

जगत्राता ने अपनी अपूर्व दूरदर्शिता से सेना-प्रवास का बहुत बढ़िया ढंग निकाला है जिससे उसको अत्यधिक आनंद हो गया है। एक सुंदर और मनोरम स्थान पर जो पंद्रह सौ तीस गज लंबा होता है राजकीय शयनागार, श्रीभवन और डंकाघर बनाया जाता है। और उस स्थान के पीछे, दाएँ और बाएँ तीन सौ साठ गज का स्थान रीता छोड़ दिया जाता है जिसमें संरक्षकों के अतिरिक्त और कोई नहीं प्रवेश पा सकता। इसी खंड में सौ गज की दूरी पर बाईं ओर मध्य में मरियम मकानी, गुलबदन बेगम और अन्य सती महिलाओं का तथा राजकुमार दानियाल के शिविर खड़े होते हैं। और दाईं ओर राजकुमार सलीम तथा बाईं ओर राजकुमार मुराद का निवास बनता है। इन राजकीय शिविरों और निवासों की पृष्ठभूमि में कार्यालय और कर्मशाला का निर्माण होता है। और उनके भी पीछे तीस गज की दूरी पर शिविर के चारों कोनों पर बाजार लगाए जाते हैं। अमीर अपनी मर्यादा के अनुसार चारों ओर बाहर बसते हैं।

बृहस्पति, शुक्र और शनिवार के संरक्षक मध्य में, रवि और सोमवार के दक्षिण में और मंगल तथा बुधवार के वाम पार्श्व में अपना डेरा डालते हैं।[1]

अबुलफजल ने इसको अकबर की सूझ का परिणाम कहा है किंतु वास्तव में यह उसके पूर्वजों की परंपरा है। अकबर ने अपने शील और गुण से उसे उजागर अवश्य किया है और अपनी विभूति से उसे वैभवशाली भी बना दिया है, परंतु कहीं दरबार के दबदबा को कम नहीं किया है। विचार करने की बात है कि जो बाजार इस प्रकार बादशाही संस्थान के निकट बसा है उसमें सौदा-सुलफ, लेन-देन और बातचीत की व्यवस्था क्या होगी और यहाँ के बनिये किस वृत्ति के जीव होंगे। और उनकी बोली-बानी भी क्या होगी? अल्लामा अबुलफजल की गवाही से सिद्ध नहीं हो पाता कि वास्तव में 'लश्कर' और 'बाजार' में भिन्न भिन्न वर्ग के लोगों की स्थिति क्या थी, तो प्रसिद्ध फराँसीसी यात्री बर्नियर का यह वर्णन पढ़ें और मीर अम्मन की माया को भली भाँति जान लें। कहते है—

अब आप स्वयं समझ लेंगे कि यह बादशाही खेमा कितना शानदार है। इन लाल खेमों का एक समूह जब चारों ओर फौज से घिरा हुआ दूर से दिखाई देता है तो बहुत ही सुहावना मालूम होता है, विशेषकर ऐसी अवस्था में जब कि स्थान की अधिकता के कारण फौजी सिपाही अपने इच्छानुसार खूब फैल फैल कर डेरे डाला करते हैं।

जैसा कि मैंने अभी लिखा है, सबसे पहले दारोगा एक उत्तम स्थान नियत करके सबसे पहले आम व खास का खेमा किसी ऊँचे स्थान पर लगाता है। इसके उपरांत वह बाजार बनवाता है जहाँ से सब लोगों को रसद मिलती है। बड़ा बाजार लंबी सड़क के समान कभी शाही खेमे के दाहिने ओर और कभी बायें ओर इस प्रकार बनाया जाता है कि सारे लश्कर के अंतिम भाग तक

१—आईन १७।

चला जाता है। जहाँ तक संभव होता है बाजार उसी ओर लगाया जाता है जिधर लशकर को कूच करना होता है। इससे छोटे छोटे बाजार जो लंबाई और चौड़ाई में इस बाजार से कम होते हैं और जिनका रास्ता इसी बड़े बाजार से होता है शाही खेमे के निकट ही बनाए जाते हैं। प्रत्येक बाजार में पहचानने के लिये एक बहुत ऊँचा लाल झंडा, जिसके सिरे पर सुरा गाय की दुम लगी होती है, खड़ा किया जाता है। इसके उपरांत अमीरों के खेमों के लिये स्थान बनाया जाता है। अमीरों के खेमे बादशाही खेमे के चाहे दाहिनी ओर हों और चाहे बाईं ओर, पर प्रत्येक खेमा वहाँ से कुछ नियत दूरी पर खड़ा किया जाता है।

और और अमीरों तथा राजाओं के डेरे भी ठीक इसी प्रकार बनाए जाते हैं। यह लोग भी इसी तरह पेशखाना रखते हैं और उनके खेमे भी उसी प्रकार कनातों से घेरे जाते हैं। इन कनातों के बाहर और सवारों तथा सरदारों के खेमे होते हैं। सब राजाओं के साथ बाजार होते हैं जिनमें उनकी फौज के दूकानदार छोटी छोटी पालें लगाकर घी चावल आदि बेचा करते हैं। इन बाजारों में प्रायः वह सब चीजें मिल सकती हैं जो किसी बड़े शहर में बिकती हैं। प्रत्येक बाजार के दोनों सिरों पर एक एक झंडा होता है जिससे प्रत्येक अमीर का खेमा दूर ही से पहचाना जा सकता है। यद्यपि बड़े बड़े अमीर और राजे अपने डेरे ऊँचे रखते हैं मगर वह डेरे इतने ऊँचे नहीं होते कि उन पर बादशाह की दृष्टि पड़ जाय और वह उनके गिरा देने की आज्ञा दे जैसा कि हाल ही में इसी यात्रा में उसने किया था। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उनकी कनातों के बाहरी कपड़ों का रंग लाल न हो क्योंकि यह रंग केवल बादशाही खेमों ही के लिये है। इन खेमों का मुँह भी सदा बादशाही खेमे और आम व खास की ओर रखना होता है।

बादशाही तथा अमीरों के खेमे और बाजार के बीच में जो स्थान बचता है उसमें छोटी श्रेणी के अमीर, मनसबदार, व्यापारी और दूकानदार आदि जो अनेक कारणों से लश्कर के साथ होते हैं अपने खेमे खड़े करते हैं। यह खेमे अनगिनत होते हैं और इनके खड़े होने के लिये जमीन का बहुत बड़ा भाग आवश्यक होता है।[१]

बर्नियर के इस विवरण से प्रकट ही है कि 'सब राजाओं के साथ बाजार होते हैं।' और क्यों न हों? कौन नहीं जानता कि किसी भी अमीर या राजा को किसी समय भी कहीं से कहीं कूच कर जाने का परवाना मिल सकता है। अब यदि उसके पास अपना निजी बाजार न हो तो वह बेचारा मार्ग में करे क्या? अतएव मीर अम्मन के सौदा-सुल्फ, लेन-देन आदि पर विचार करते समय कुछ इसका भी ध्यान रखना चाहिए और बराबर यह जानते रहने की चेष्टा करनी चाहिए कि मुगल बादशाहों का सेना-संघ कैसा था। मीर अम्मन को पता नहीं कि अमीरों और मनसबदारों के योग से मुगल-सेना बनी थी कुछ व्यक्तियों के मेल से नहीं। अर्थ यह कि मुगल-बाजार या उर्दू में व्यक्ति का व्यक्ति से उतना संबंध नहीं था जितना अमीर का अमीर से। उर्दू के अमीर फारसी बोलते थे, फिर चाहे वे ईरानी हों चाहे तूरानी और चाहे हिंदी

१—डाक्टर बर्नियर की भारतयात्रा, अनुवादक-श्री गंगाप्रसाद गुप्त, कल्पतरु प्रेस, काशी; सन् १९०५ ई०, चौथा भाग, पृष्ठ २३–२४।

ही क्यों न हों। रहे शेष लोग। सो अपनी अपनी मंडली में अपनी अपनी बोली बोलते थे। सबको मिलकर एक होने और एक बोली बोलने की आवश्यकता किसी अकबर के समय में भी कब हुई जो कोई उर्दू की बोली बनती ? नहीं, यह भी मीर अम्मन की कोरी उड़ान और चकमा देने की सजग चेष्टा है। अकबर के पहले भी इसी देश में अनेक सुलतान ऐसे हो गए हैं जिनका शासन कुछ कम नहीं था और जिनकी सेना में सभी प्रकार के लोग थे। अलाउद्दीन और शेरशाह के समय में क्या लोग मुँह बाँधकर रहा करते थे ? क्या अकबर के पहले की सारी हिंदी रचना बिना मेलजोल और लेन-देन के बन गई है ? जो हो, मीर अम्मन का रंग तो और भी निराला है आगे चल कर आप बताते हैं—

जब हजरत शाहजहाँ साहिबे किरान ने किला मुबारक और जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर करवाया तब बादशाह ने खुश होकर जश्न फरमाया और शहर को अपना दारुल खिलाफत बनाया। तब से शाहजहानाबाद मशहूर हुआ। (अगरचे दिल्ली जुदी है। वह पुराना शहर और यह नया शहर कहलाता है) और वहाँ के बाजार को उर्दू-ये-मुअल्ला खिताब दिया।

अच्छा, तो मीर अम्मन के कहने का अर्थ हुआ कि 'उर्दू-ये-मुअल्ला' नाम है 'बाजार' का न कि 'किला मुअल्ला' या दरबार का। ध्यान से देखिए तो, इस विवरण मे कहीं भी 'बाजार' बनवाने का भी उल्लेख है ? शाहजहाँ ने 'किला मुबारक' बनवाया और 'जामा मसजिद' तथा प्राचीर वा परकोटा का निर्माण कराया। बस, उसकी ओर से इतना ही तो काम हुआ ? हाँ, मान लिया कि नव्वाब अली मरदान खान ने नहर भी बनवा दी, पर कहीं किसी ने कोई 'बाजार' तो नहीं बनवाया ? फिर शाहजहाँ ने किस बाजार का नाम उर्दू-ये-मुअल्ला रखा ? मीर अम्मन बड़ी चातुरी से कह जाते हैं 'वहाँ के बाजार को उर्दू-ये-मुअल्ला खिताब दिया।' कहाँ के बाजार को ? 'पुराने शहर' या 'नए शहर' के बाजार को ? इसका उत्तर किस उर्दू के मुँह से सुना जाय ? आज तो भाग्यवश उर्दू का कोई लाड़ला नव्वाब सदर यार जंग बहादुर आप ही यह कहता सुनाई देता है—

जिन मुवर्रखीन उर्दू ने अहद शाहजहानी को उर्दू की नशो व नुमा का अहद करार दिया है वह शाहजहाँ के उर्दू-ये-मुअल्ला की मुनासिबत से उसका नाम उर्दू रखा जाना तजवीज फरमाते हैं। मगर इसकी कोई सनद नहीं कि अहद मजकूर में इस जबान का नाम उर्दू था। इन्तहा यह कि दिल्ली के उर्दू बाजार का नाम भी इस अहद में यह न था।[1]

सुना आपने ? आपका कहना है कि जिन उर्दू के इतिहास-लेखकों ने शाहजहाँ के शासन-काल को उर्दू के पालन-पोषण का समय माना है वे शाहजहाँ के उर्दू-ये-मुअल्ला के संबंध से उसका नाम उर्दू रखा जाना ठीक समझते हैं। किंतु इसका कोई प्रमाण नहीं कि इस काल में इसका नाम उर्दू था भी। पते की बात तो यह है कि दिल्ली के उर्दू बाजार का नाम भी इस समय यह न था। न सही, पर मीर अम्मन को इससे क्या

१—मुकालात उर्दू, मुसलिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़, सन् १६३४ ई०, पृष्ठ ६६।

लेना-देना है ? उनको तो जैसे तैसे ले दे के बस यही सिद्ध कर देना है कि उर्दू मेलजोल से बाजार में बनी और सब की बोली है, पर आज का जानकार सचेत होकर चेतावनी देता है कि 'लफ्ज उर्दू' का प्रयोग 'उर्दू की जबान' के लिये अब न किया जाय। कारण यह बताता है कि इससे इसके मूल को समझने में भूल होती है। निवेदन है, कदापि नहीं। भूल नाम के कारण नहीं चाल के कारण हुई है। भूल जाइए कि उर्दू सबकी बोली है, फिर देखिए कि उर्दू का सारा इतिहास आप ही झलक उठता है वा नहीं।

अमीर तिमूर के 'लश्कर का बाजार शहर में दाखिल हुआ, इस वास्ते शहर का बाजार उर्दू कहलाया' से लेकर शाहजहाँ के 'वहाँ के बाजार को उर्दू-ये-मुअल्ला का खिताब दिया' तक जो भ्रम-जाल बिछाया गया है उसका लक्ष्य है उर्दू को 'लश्कर' और 'बाजार' की बोली बता सबकी बोली सिद्ध कर देने का आग्रह। मीर अम्मन को इसमें पूरी सफलता मिली, इसमे संदेह नहीं। पर कागद की नाव कब तक चलेगी और कब तक सत्य पर पानी डाला जायगा। कभी न कभी उर्दू की कलई खुलेगी और खुल कर ही रहेगी। तो भी कहना तो यहाँ यह है कि इस समय उर्दू के लोग और भी अंधे हो रहे हैं और सारा इतिहास इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहते हैं कि हिंदी को कहीं ठौर ही न रहे। देखिए न एक दूसरे महानुभाव अँगरेजी में उर्दू के विषय में क्या लिखते हैं। आपका कहना है—

दि मगोल्स रिटेन देयर ऐंसेस्ट्रल सिस्टम आव् डिवाइडिंग देयर ट्रूप्स इनटू रेजिमेंट्स, ईच अंडर इट्स ओन हेरिडेटरी चीफ। इन परसियन दीज रेजिमेंट्स आर काल्ड 'लश्कर'। ईच रेजिमेंट-कमांडर हैज हिज ओन बाजार, दीज बाजार आर काल्ड इन दि टार्टार लैंग्वेज 'उर्दू', आर ऐज दि पोर्चुगीज प्रोनाउंस इट 'उर्डा'। दे आर नेम्ड आफ्टर दि रेजिमेंट-कमांडर, फार एक्जापुल दि उर्दू (उर्डा) आई० इ० रेजिमेंट आव् मैसिनस[1]।

मियाँ अब्दुल अजीज ने भी वही चक्र चलाया है और बड़े अभिमान से कह दिया है कि सेना में जो बाजार होता है उसी को तातारी भाषा में उर्दू कहते हैं, पर निर्वाह इसका भी नहीं हो सका है। कारण कि आगे चलकर उर्दू को 'रेजिमेंट' या 'लशकर' का ही पर्याय माना है, कुछ बाजार का नहीं। विचार करने की बात है कि जब उर्दू का संकेत बाजार नहीं होता तब उसे बाजार बनाने का इतना आग्रह क्यों किया जाता है। भाग्य की बात है कि 'फरहंगे आसफिया' जैसे मान्य कोश में 'उर्दू' के अर्थ में लिखा गया है— 'लश्कर', 'फौज कैंप', 'लश्करगाह', कुछ 'बाजार' नहीं। 'बाजार' का नाम तो 'उर्दू बाजार' में आया है और उसका अर्थ किया गया है उर्दू ही, लश्कर ही, कुछ बाजार नहीं। देखिए 'उर्दू बाजार' का अर्थ दिया गया है—'सदर बाजार', 'लश्कर का बाजार', 'कैंप का बाजार', 'छावनी का बाजार'। अर्थात् उर्दू के पर्याय मे दिया गया है 'सदर', 'लश्कर', 'कैंप' और 'छावनी'। इसमें क्या बात है जो उर्दू को 'बाजार' का पर्याय

१—अब्दुल अजीज का दि मनसबदारी सिस्टम आव् दि मुगल्स।

बनाती है, इसे कोई उदू का सपूत ही बता सकता है। पर उदू का अर्थ 'सदर' और 'छावनी' भी है, इसे आप भी झट जान सकते हैं और उर्दू का संबंध 'सदर' और 'छावनी' से मान सकते हैं।

उर्दू के अति प्रचलित और मान्य अर्थ की अवहेलना कर मीर अम्मन ने जो बाजार का पल्ला पकड़ा था वह इसके आगे चल न सका और उर्दू-ये-मुअल्ला का संकेत बाजार बताकर उनको संतोष की साँस लेनी पड़ी। इसका प्रधान कारण यह था कि उस समय उर्दू-ये-मुअल्ला का नाम इतना उजागर हो रहा था कि उसको छिपा देना किसी मीर के बूते का न था। पर मीर मीर ही ठहरा। उसने बड़ी कुशलता से उसका संकेत ही बदल दिया और वह दरबार से निकलकर बाजार में छा गया। पर यह चकमा कहाँ तक चल सकता था ? अंत में उसे भी अपने ढंग पर वही लिखना पड़ा वास्तव में जो उर्दू का सच्चा इतिहास है। देखिए, भूल न जाइए घपले का राज यहाँ भी है। हाँ,

अमीर तैमूर के अहद से मुहम्मदशाह की बादशाहत बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक्त तलक पीढ़ी ब पीढ़ी सलतनत एक साँ चली आई। निदान जबान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसू शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।

'सलतनत एक साँ' कब से कब तक चलती रही, इसका ठीक पता मीर अम्मन को नहीं है, तो कोई बात नहीं, परंतु इतना तो उन्हें भी मान्य है कि 'उदू की जबान' मँजी उसी सलतनत के कारण है। अब यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः स्वयं उठता है कि यदि उर्दू 'बाजार' में मँजी तो इसको माँजने का श्रेय किसको है—दूकानदारों, गाहकों अथवा उन रईसों को जिनके चाकर बाजार में सौदा-सुल्फ, लेन-देन करने जाते थे ? मीर अम्मन की बिसात क्या, उदू का कोई भी अल्लामा इसको खोल नहीं सकता। बस, यहीं से उर्दू का सच्चा इतिहास सामने आता है। मीर अम्मन की कहानी को टुक ध्यान से सुनिए नहीं तो फिर धोखा हो जायगा। देखिए किस विषाद से सुनाते है–

जब अहमदशाह अब्दाली काबुल से आया और शहर को लुटाया, शाह आलम पूरब की तरफ थे। कोई वारिस और मालिक मुल्क का न रहा। शहर बेसर हो गया। सच है बादशाहत के इकबाल से शहर की रौनक थी। एकबारगी तबाही पड़ी। रईस वहाँ के मैं कहीं तुम कहीं होकर जहाँ जिसके सींग समाए वहाँ निकल गए। जिस मुल्क में पहुँचे वहाँ के आदमियों की साथ-संगत से बात-चीत में फर्क आया। और बहुत ऐसे हैं कि दस-पाँच बरस किसू सबब से दिल्ली में गए और रहे। वह भी कहाँ तलक बोल सकेंगे ? कहीं न कहीं चूक ही जायेंगे। और जो शख्स सब आफतें सह कर दिल्ली का रोड़ा होकर रहा है और दस-पाँच पुश्तें उसी शहर में गुजरीं, और उसने दरबार उमरावों के और मेले-ठेले, उर्स-छड़ियाँ, सैर-तमाशा और कूचागरदी इस शहर की मुद्दत तलक की होगी, और वहाँ से निकलने के बाद अपनी जबान को लिहाज में रखा होगा, उसका बोलना अलबत्ता ठीक है।

अब आप ही कहें, है इसमें कहीं 'बाजार', सौदा-सुल्फ, लेन-देन आदि का संकेत भी ? नहीं, इसमें तो 'अपनी जबान को लिहाज' में रखने की कैद है। तो फिर इसे सैयद

इंशा अल्लाह की इस खोज के साथ क्यों न देखा जाय ? अरे ! उनका भी तो यही कहना है और कहना है ठोस शोध के आधार पर कुछ बुजुर्गों के मुँह से सुनने पर नहीं। थे भी वे 'उर्दू' यानी लखनऊ के दरबार में ही। अच्छा, तो उनका कहना है—

बहर हाल (कुछ भी हो) अपनी समझ और सलीका (ढंग) के बमोजिब (अनुसार) बहुल गौर (मनन) और तायम्मुल (गवेषण) के बाद इस हेचमर्दां (विमूढ़) को यह मालूम होता है और गालिब (सभव) है कि यह राय नाकिस (तुच्छ विचार) दुरुस्त (ठीक) हो कि शाहजहानाबाद की जबान वह है जो दरबारी और मुसाहबतपेशा (सभासद), काबिल अशखास (योग्य व्यक्तियों), खूबसूरत माशूकों (छैलछबीलों), मुसलमान अहल हिरफा (गुणज्ञ मुसलमान), शुहदों (गुंडों) और उमरा (अमीरों) के शागिर्दपेशा (परिजनों) और मुलाजिमों (चाकरों) हत्ता (यहाँ तक) उनके खाकरोबों (मेहतरों) की जबान है। यह लोग जहाँ कहीं पहुँचते हैं उनकी औलाद (संतान) दिल्लीवाली और उनका मुहल्ला दिल्लीवालों का मुहल्ला बाजता है। और अगर तमाम शहर में फैल जायें तो शहर को उर्दू कहते हैं। लेकिन इन हजरात (महाशयों) का जमघटा सिवाय लखनऊ के और कहीं खाकसार (विनम्र) की राय में नहीं पहुँचता। अगरचे मुरशिदाबाद और अजीमाबाद (पटना) के बाशिंदे (निवासी) अपने जोम (अभिमान) में खुद को उर्दूदाँ और अपने शहर को उर्दू कहते हैं। क्योंकि अजीमाबाद में देहलीवाले एक मुहल्ले के अंदाजे (अनुमान) में, रहते होंगे और नव्वाब सादिकअली खान उर्फ (उपनाम) मीरन और नव्वाब कासिम अली खान आलीजाह के जमाने में उसी कदर या उससे कुछ ज्यादा (अधिक) मुरशिदाबाद में होंगे।[1]

सैयद इंशा अल्लाह खाँ ने जो कुछ लिखा है सोच समझकर लिखा है। उर्दू किसे और क्यों कहते हैं इसका सीधा समाधान भी कर दिया है। उनका कहना है कि यदि शाहजहानाबाद के विशिष्ट लोग किसी नगर में फैल जाते हैं तो उस नगर को उर्दू कहते हैं। स्मरण रहे, इस उर्दू में 'बाजार' का नाम नहीं। यदि मीर अम्मन को सचाई से काम लेना होता तो लिख देते कि 'शाही लश्कर' शहर में दाखिल हुआ और शहर उर्दू कहलाया, परंतु प्रमाद किंवा जालवश उन्होंने ऐसा नहीं किया और झूठ का ऐसा पाठ पढ़ाया कि अँगरेजों की कृपा से विश्व में वह सत्य होकर फैल गया। अँगरेज किसी की आँख में धूल झोंक सकते हैं पर किसी की आँख फोड़ना उनके बूते के बाहर की बात है। कुछ भी हो, अब तो यह सिद्ध होने से रहा कि उर्दू 'बाजार' में पैदा हुई और 'लश्कर' में बनी। उर्दू का अर्थ सदा से जो रहा है वही सैयद इंशा अल्लाह के यहाँ भी है। और यही कारण है कि सैयद इंशा उर्दू को दरबारी चीज समझते हैं। हाँ, इसी से उनका यह भी कहना है कि

मुख्तसर (संक्षिप्त) यह कि बादशाहों और उमरा (अमीरों) और उनके दरबारियों और हाजिरबाशों (कानलगों) से उर्दू की सनद लेनी चाहिए। क्योंकि फकीह (धर्माचार्य) और शाइर (कवि) रियाजीदाँ (गणितज्ञ) और मुहासिब (गणक), मुगन्नी (गायक) और तबीब (वैद्य) सूफी और खूबसूरत औरतें उनकी मजलिस (सभा) में हाजिर रहते हैं और फिरका-फिरका (वर्ग-

१—दरियाये-लताफत, अंजुमन तरक्की उर्दू, देहली, सन् १६३५ ई०, पृष्ठ १२१–२।

वर्ग) की इसतलाहें (परिभाषाएँ) सुनने में आती हैं। और वह जिस लफ्ज (शब्द) को इसतलाह (शिष्ट) बना दें उसके कबूल (स्वीकार) करने से छोटे-बड़े को इनकार नहीं हो सकता। वह इसतलाह (परिभाषा) जल्द से जल्द रिवाज (प्रचलन) पा जाती है।'

अस्तु, निष्कर्ष यह निकला कि उर्दू का संबंध विशिष्ट लोगों से ही है। उसमें सब की बोली के शब्द भले ही हों पर अधिकार उस पर दरबारी लोगों का ही है। सबसे उसका सीधा लगाव नहीं। याद रखिए, यदि उर्दू की ठसक ऐसी न होती तो मौलवी मीर अम्मन को भी कभी भूलकर भी यह कहना न पड़ता कि

रईस वहाँ के मै कहीं तुम कहीं होकर जहाँ जिसके सींग समाए वहाँ निकल गए। जिस मुल्क मे पहुँचे वहाँ के आदमियों की साथ-संगत से बातचीत में फर्क आया।

और, और तो और, यहाँ तक लिख जाते कि

और वहाँ से निकलने के बाद अपनी जबान को लिहाज में रखा होगा।

'लिहाज में रखा होगा' का अर्थ ? कहने को कोई कुछ भी कहें पर खरी और दो टूक बात यह है कि यही 'लिहाज' ही उर्दू का सर्वस्व है। इसे छोड़कर उर्दू जी नहीं सकती। रईसों से उर्दू का जो लगाव रहा है उसी का परिणाम है कि स्वयं मीर अम्मन को बड़े उल्लास से लिखना पड़ा है जान गिलक्रिस्त साहब को 'नजीबों के कद्रदाँ'। और अपने आप ही कहना पड़ा अपनी रचना की भाषा के विषय में—

सो उर्दू की आरास्ता कर जबान, किया मैने बंगाला हिंदोस्तान।

स्मरण रहे, मीर अम्मन से कहा गया था कि

इस किस्से को ठेठ हिंदुस्तानी गुफ्तगू (बातचीत) में जो उर्दू के लोग हिंदू-मुसलमान, औरत-मर्द, लड़के-बाले, खास वो आम आपस में बोलते चालते हैं तरजुमा करो।

परंतु उन्होंने किया यह . . उस उर्दू की जबान को आरास्ता (सज्जित) किया और

हजार जिद वो कद (श्रम और शोध) से उर्दू-ये-मुअल्ला की जबान में बाग वो बहार बनाया।[२]

ध्यान देने की बात है मीर अम्मन देहलवी ने अपनी इस 'अर्जी' में अपने आपको 'दिल्लीवाला' कहा है और अपनी भाषा को 'उर्दू-ये-मुअल्ला की जबान'। 'दिल्लीवाले' का अर्थ उनकी दृष्टि में क्या है, इसका पता भले ही आपको न चले पर आप यह कह नहीं सकते कि उनकी 'उर्दू-ये-मुअल्ला की जबान' दिल्ली के 'बाजार की जबान' है। चकमा देने के लिये तो उन्होंने भले ही कह दिया कि शाहजहाँ ने उत्सव किया और उसमें 'वहाँ के बाजार' को 'उर्दू-ये-मुअल्ला' की उपाधि दी पर वस्तुस्थिति यह है कि उर्दू-ये-मुअल्ला नाम है 'किला मुअल्ला' अथवा शाहजहानाबाद के 'लाल किला' का ही। परंतु इस उर्दू-ये-मुअल्ला पर कुछ लिखने के पहले ही बता देना है कि

१—वही, पृष्ठ ६५–६।

२—अर्जी मीर अम्मन दिल्लीवाले की।

हिंदी के कवियों ने 'दिल्लीवाल' का प्रयोग किस अर्थ में किया है, सो हिंदी का एक अति प्रसिद्ध कवित्त है। उसी को उदाहरण में ले लीजिए और कहिए तो सही सैयद इंशा का कहना साधु है वा नहीं। कहते हैं—

दारा और औरंग जुरे हैं दोऊ दिल्लीवाल, एकै गए भजि एकै गए रूँधि चाल मैं।
कोऊ दगाबाजी करि बाजी राखी निज कर, कौन हू प्रकार प्रान बचत न काल मैं।
हाथी ते उतरि हाडा जूझ्यो लोह-लंगर दै, एती लाज कामैं जेती लाज छत्रसाल मैं।
तन तरवारिन मै, मन परमेसुर मैं, प्रान स्वामी कारज मैं, माथो हर-माल मैं॥

तथा

कीबे को समान प्रभु ढूँढ़ि देख्यो आन पै, निदान दान जुद्ध मैं न कोऊ ठहरात है।
प्रथम प्रचंड भुजदंड को बखान सुनि, भागिबे को पच्छी लौ पठान थहरात है।
सका मानि सूखत अमीर दिल्लीवारे जब, चपति के नंद के नगारे घहरात हैं।
चहूँ ओर चकित चकत्ता के दलन पर, छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं॥

जो हो, 'दिल्लीवाल' से विशेष कुछ सधता नहीं दिखाई देता किंतु तो भी इतना तो विदित ही हो जाता है कि शब्दों का सांकेतिक अर्थ क्या महत्त्व रखता और कब क्या भाव बताता है। देखिए, सैयद अहमद देहलवी जैसे पारखी का विषाद है—

अब कोई दिन में खालिस (खरी) उर्दू जबान का सिर्फ नाम ही नाम रहकर इन नए जबाँदानों (भाषाविदों) और नवदौलतों (नव सपन्नों) के हाथों कुछ से कुछ रंग हो जाएगा और यह एक बेढंगी उर्दू बन जाएगी। इसकी फसाहत (शिष्टता) व बलागत (प्रगल्भता) शुस्तगी (साधुता) व सलासत (सरसता) किलावालों की तरह खाक में मिल जायगी और दिल्लीवालों की तरह जमीन का पैबंद हो जाएगी तो हाथ मलने के सिवा कुछ भी हाथ न आएगा।[1]

सैयद अहमद ने यहाँ 'दिल्लीवालों' के साथ ही 'किलावालों' का भी नाम लिया है। इसका प्रधान कारण यह है कि

यह बात सबने तसलीम (स्वीकृत) कर रखी थी कि असली उर्दू शाहजादगाने तैमूरिया (तैमूरी राजकुमारों) की ही जबान है और लालकिला ही इस जबान की टकसाल है। इसलिये सैयद खास हमें और चंद (कुछ) अजीज शाहजादों (प्रिय राजकुमारों) को बुलाते थे; आम से गर्ज न थी।[2]

मियाँ अरशद गुरगानी के इस कथन में कुछ सार है, 'लाल किला ही इस जबान की टकसाल है' को कुछ इतिहास की दृष्टि से देखिए तो आँख खुले और पता चले कि सैयद इंशा ने कैसी पाव तोला बावन रत्ती की खरी बात कही है, कहते हैं—

१—फरहंगे आसफिया, पहली जिल्द, सबब तालीफ, रिफाहे आम प्रेस, लाहौर, सन् १६०१ ई०, पृष्ठ १३

२—वही, जिल्द चहारुम, तकसिज, पृष्ठ ८४५।

जबान उर्दू जो फसाहत (प्राञ्जलता) व बलागत (प्रगल्भता) की कान (खान) मशहूर है यह हिंदोस्तान के बादशाह की [जिसके सर पर फसाहत का ताज जेब (शोभा) देता है] और चंद अमीरों और उनके मुसाहिबों (सभासदों) और चंद मुखद्दरात (महिलाओं) मिस्ल (जैसे) बेगम व खानम की और कसबियों (वेश्याओं) की जबान है। जो लफ्ज उनमें इस्तेमाल (प्रयुक्त) हुआ उर्दू हो गया। यह बात नहीं कि जो कोई भी शाहजहानाबाद में रहता है वह जो कुछ बोले सनद (प्रमाण) है।[1]

सैयद इंशा अल्लाह खाँ ने उर्दू की जो कसौटी मानी है वह वस्तुतः दरबारी है। दरबार से ही सदा से उर्दू का नाता रहा है। उर्दू जबान का ही नहीं, स्वयं उर्दू शब्द का लगाव जितना राजा से है उतना प्रजा से नहीं। यही कारण है कि उर्दू की भाषा ने कभी जनता का आदर नहीं किया और उसकी वाणी को सदा अछूत ही समझा। जो हो, जताना तो यहाँ यह है कि उर्दू शब्द के व्यवहार में सैयद इंशा जैसी दक्षता और सचाई से काम लेते हैं वैसी साधुता अन्यत्र नहीं दिखाई देती और मीर अम्मन तो फोर्ट विलियम में पहुँच कर कालेज के छात्रों के लिये नया प्रपंच ही खड़ा कर देते हैं। परंतु स्मरण रहे कि उर्दू का अर्थ है बादशाही पड़ाव, न कि सब की हाट-बाट। 'बाजार' के अर्थ में 'उर्दू' का प्रयोग अभी इस जन की दृष्टि में नहीं आया। हाँ, 'उर्दू बाजार' का प्रयोग कान से सुना तथा आँख से देखा भी। देखिए, सब से पहले मुरादशाह के उस 'उर्दू'-प्रयोग को देखिए जिसका अवतरण लोग प्रायः उर्दू की प्रचीनता सिद्ध करने के लिये किया करते हैं। बात १२०३ हि० (सन् १७८८ ई०) की है। मुरादशाह लखनऊ से अपने लाहौर के मित्रों के लिये अपने पिता को लिखते हैं कि वहाँ के मित्रों के उपहार के लिये उर्दू के बाजार से मोती लाया हूँ। प्रश्न उठता है कि वह उर्दू क्या है जिसके बाजार से कि यह मोती का उपहार लाया गया है। उत्तर दिया जाता है कि वह 'हिंदी जबान' है जिसका कि लोहा अब सारा संसार मान रहा है। उनका मूल शेर है—

बराये तोहफये याराने आँ सू, गुहरहा आरम अज बाजारे उर्दू।
वह उर्दू क्या है ? यह हिंदी जबाँ है, कि जिसका कायल अब सारा जहाँ है।

इसमें 'उर्दू' का अर्थ चाहे कुछ भी समझा जाय, पर कभी वह 'बाजार' का पर्याय तो हो नहीं सकता। तो, क्या इस 'उर्दू' को सैयद इंशा के लखनऊ के 'उर्दू' का द्योतक नहीं समझ सकते ? अपनी विवशता अपने सामने है। मुरादशाह का पूरा पत्र नहीं कि उससे प्रकाश मिले। निदान इसे यहीं छोड़ अब दिखाना यह चाहते हैं कि फोर्ट विलियम कालेज में भी 'उर्दू बाजार' का प्रयोग कुछ इसी अर्थ में हुआ है। मौलवी अमानत अल्लाह 'शैदा' 'जामा-उल्-अखलाक' की भूमिका में, सन् १८०५ ई० में, लिखते हैं—

और इन आबदार मोतियों को रिश्ताय तहरीर में पिरो कर रेखता जबान के उर्दू बाजार में ला हाजिर किया।[2]

१—दरिया-ये-लताफत, पृष्ठ १०८। २—दास्ताने उर्दू, पृष्ठ ११४।

'रेखता जबान' और 'उर्दू बाजार' को समझने की चेष्टा करें तो लेखक का चमत्कार खुले। है, उर्दू में भाषा की भी गंध अवश्य है, पर है वह यहाँ जबान के साथ ही, उर्दू के अन्य अर्थ के पर्याय में भी। भाव इसका प्रमुख या 'सदर बाजार' ही है; और यहाँ भी उर्दू के अर्थ में उसका बड़प्पन बना हुआ है, सारांश यह कि उर्दू को 'बाजार' का पर्याय नहीं कहा जा सकता, उर्दू में बाजार रहता अवश्य था पर कभी बाजार को ही उर्दू या उर्दू को ही बाजार कहते नहीं थे। अच्छा होगा, इस प्रसंग में इतना और जान लें कि

बट् दि मुसल्मान राइटर्स, हू कांस्टैंट्ली कन्फ्यूज दि वर्ड्स फार सिटी ऐंड 'कट्री', ऐंड इवेन 'नेशन" उड बी अनलाइक्ली टु डू एनी डिस्टिंक्शन बिट्वीन ए बिल्ट ऐंड परमानेंट टाउन, ऐंड ऐन एनकैंपमेंट आव् फेल्ट कैंट्स, ऐन उर्दू आर ऐन औल ऐज दि टर्की वर्ड्स आर।... दि औल, आर कलेक्सशन आव् फेल्ट् टेंट्स, पिच्ड विदाउट आर्डर आर एनी व्यू टु परमानेंसी, नियर दि बैंक्स आव् ए स्ट्रीम, ऐंड इन दि सेंटर आव् सम डिस्ट्रिक्ट ह्वेयर पाश्चर वाज नियर ऐट हैंड, वाज प्राबेब्ली दि नियरेस्ट अप्रोच टु ए टाउन ऐट दि पीरियड अवर हिस्ट्री बिलांग्स टु। हियर, पासिब्ली ए स्क्वायर आर आब्लाग शेड आव् ब्राउन मड ब्रिक्स, आर्नामेंटेड विद याक्स' टेल्स, एंटिलोप्स' हेड्स, ऐंड रोज आव् स्माल, कलर्ड फ्लैग्स, मे हैव स्टुड टु रिप्रेजेंट दि उर्दू प्रापर, आर रिसेप्शन-रूम ऐंड कोर्ट हाउस आव् दि चीफ, ह्वाइल राउंड इट वेयर स्कैटर्ड दि डोम-शेप्ड टेंट्स आव् विलो लैद्स, कवर्ड विद शीट्स आव् फेल्ट—आल ग्रीमी ऐंड ग्रीजी—ऐंड रेडी ऐट एनी मोमेंट टु बी टेकेन डाउन व्हाई दि वीमेन आव् दि ट्राइब, ऐंड पैक्ड, विद दि रेस्ट आव् देयर डोमेस्टिक बिलांगिंग्स, आन दि बैक्स आव् दि कैमेल्स।[१]

उर्दू शब्द के व्यवहार में मुसलमान लेखकों ने बड़ी गड़बड़ी की है। उन्होंने मुगलों के स्थायी और संचारी निवास में कोई भेद नहीं रखा है। उर्दू का प्रयोग संचारी निवास या स्कन्धावार के लिये ही करना था। मुगलों की यह प्रकृति थी कि वे नदी के तट पर अपना पड़ाव डाल लेते थे और फेल्ट के तंबुओं से अपना घर बना लेते थे। जहाँ खाने पीने और चरने फिरने की सुविधा होती वहाँ उनकी बसती सी बन जाती और वहीं उनकी पुरी बन जाती, उसी में कुछ सज-धज के साथ गारे और ईंटों से उनके मुखिया का निवास भी उसी प्रकार बन जाता था, जिसमें कुछ चवर और मृगों के सींग झंडों के साथ सुशोभित रहते थे, और मुख्य उर्दू का लक्षण बताते थे। यही सब का स्वागतस्थान था। इसके चारों ओर अन्य लोगों के डेरे जैसे तैसे होते थे जो किसी भी समय बाँधबूँध कर ऊँटों पर लाद कर कूच करने के लिये तैयार रहते थे। संक्षेप में यह समझिए कि यही मुगलों के निवास का प्रकृत रूप था और इसी का बादशाही रूप बर्नियर के वर्णन में देखने को मिलता है। इसमें भी उर्दू का संकेत प्रमुख से ही अधिक है।

१—एन० इलियस द्वारा संपादित दि तारीख-ऐ-रशीदी, लंदन, सन् १८९५, पृष्ठ ५८-९।

उर्दू के इस रंग को ध्यान में रखकर देखें तो पता चले कि शाहजहाँ ने शाहजहानाबाद का नाम क्यों उर्दू-ये-मुअल्ला रखा और क्यों मुगल बादशाही की टकसाल उर्दू में भी रहती थी। यहाँ तक कि जहाँगीर का एक सिक्का सन् १८९९ ई० में काशीपुर (नैनीताल) में ऐसा मिला जिसकी टकसाल का नाम 'उर्दू दर राहे दकन' है। 'उर्दू की जबान' में इसकी चर्चा इतनी की गई है कि फिर उसको दोहराने से कोई लाभ नहीं, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी से मँगा कर कोई भी उसे देख सकता है। प्रसंगवश बताना है कि 'उर्दू' के इतिहास से जो लोग अभिज्ञ हैं उनकी दृष्टि में 'शाहजहानाबाद' का 'उर्दू-ये-मुअल्ला' नाम भी वैसा ही है जैसा 'काशगर' का 'उर्दू-ये-कंद' अथवा 'कराकुरम' का जैसे 'उर्दू-ये-बालिग'। आप चाहे 'उर्दू-ये-मुअल्ला' को लें चाहे 'उर्दू-ये-कंद' को और चाहे 'उर्दू-ये-बालिग' को, सभी के मूल में वही छावनी बोल रही है और सभी पुकार कर कहते हैं कि कृपा कर हमें शेष छावनियों या उर्दुओं से कुछ अलग समझो—उनसे बड़ा मान लो। मानने में कुछ क्षति भी नहीं। ईंट का न सही लाल पत्थर का सही, पर है तो मूल में वही बात ? अस्तु, हमारा कहना है कि उर्दू-ये-मुअल्ला और उर्दू का लगाव 'दरबार' से जितना है उतना 'घरबार' से नहीं। फलतः 'उर्दू की जबान' या उर्दू भी जितनी 'मुगली' है उतनी हिंदी नहीं। कौन नहीं जानता कि 'मुगल' बनने की जितनी चिंता छबीले शाहजहाँ को थी उतनी न उसके बाप जहाँगीर और न उसके बाबा अकबर को ही थी। वह सभी प्रकार से अपने को अमीर तिमूर का बच्चा सिद्ध करना चाहता था और जी से चाहता था कि उस भूमि का भी सम्राट बने जिसका अमीर तिमूर था। पर उसके भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। वह नाम मात्र को ही 'साहिबे किरान' रह गया। और उस संकट से उसकी सेना का उद्धार किया मिरजा जयसिंह ने हो। बिहारी सा रसीला कवि किस उल्लास में कह जाता है—

> घर घर तुरकिनि हिंदुनी देतिं असीस सराहि।
> पतिनु राखि चादर-चुरी तैं राखी जयसाहि॥

कारण—

> यौं दल काढ़े बलक तैं तैं जयसिंह भुवाल।
> उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ-गुवाल॥

किंतु खेद का विषय है कि आज उस 'अघासुर' से उद्धार करनेवाला कोई हरि नहीं, जयसिंह नहीं। आज का मोहनदास कर्मचंद तो चंद लोगों की बातों में आकर किसी ताराचंद और किसी सुंदरलाल की बातों मे फँसकर सब को उसी उर्दू का दास बनाना चाहता है जो उसी उर्दू-ये-मुअल्ला में बनी है जिसका निर्माण प्रजा का खून चूसकर हुआ है और जो आज भी लालकिले के रंग में फूटकर तड़प रहा है। यह भावना नहीं ध्रुव इतिहास की बात है कि रुपया तहसीलने में शाहजहाँ जितना

कठोर था उतना दूसरा कोई मुगल बादशाह नहीं। कोई आदमी मरा नहीं कि उसका सारा माल हड़प। शेष शुभ।

हाँ, तो कहना यह था कि उर्दू का प्रयोग परंपरा से जो प्राप्त है वह है यही—

लफ्ज 'उर्दू' का लश्कर व लश्करगाह बल्कि दारुल् सल्तनत के मानों में इस्तैमाल होना अलाउद्दीन बिन अतामुल्क जुवैनी की तारीख 'जहाँकुशाय' (सन् ६५८ हि० = १२६० ई०) से साबित है। अलाउद्दीन ने अपनी तारीख में चँगेज खाँ और उसके खानदान के हालात लिखे हैं, और उनके लश्कर व लश्करगाह के लिये उर्दू का लफ्ज इस्तैमाल किया है।[१]

इसमें कहीं भी इस बात की गंध नहीं कि उर्दू का प्रयोग 'बाजार' के अर्थ में भी कहीं होता है। परंतु ध्यान देने की बात है कि यही प्रोफेसर कादिरी साहब जब 'उर्दू की जबान' की बात करते हैं तब गोलमाल कर लिख जाते हैं कि

शाहजहाँ ने देहली का लाल किला बनाया। देहली का नाम शाहजहाँ आबाद रक्खा। किला को किला मुअल्ला और शाही लश्करगाह को उर्दू-ये-मुअल्ला कहते थे। जब उर्दू जबान किला मुअल्ला में दाखिल हुई तो उर्दू-ये-मुअल्ला का खिताब पाया।[२]

अर्थात् आपने बड़ी चातुरी से दिखा दिया है कि 'उर्दू जबान' 'किला मुअल्ला' से पहले की है, परंतु देखिए तो सही आपका कहना क्या है। आप कहते हैं—'शाही लश्करगाह को उर्दू-ये-मुअल्ला कहते थे' पर साथ ही आप नहीं कहते कि जब 'उर्दू जबान' 'शाही लश्करगाह' में 'दाखिल हुई तो उर्दू-ये-मुअल्ला का खिताब पाया'। हालाँ कि न्याय की बात यही थी। सच्ची बात तो यह है कि 'उर्दू' को 'किला' भी कहते हैं और यह आज भी अपने देश में इसी अर्थ में बोला भी जाता है। कारण यह कि बादशाह का निवास ही किला होता है, कुछ और कुछ नहीं। यही कारण है कि दिल्ली के लाल किले को 'किला मुअल्ला' और 'उर्दू-ये-मुअल्ला' भी कहते हैं और कहते हैं 'शाही लश्करगाह' अथवा दारुल् सल्तनत के कारण ही। कौन नहीं जानता कि यह 'किला मुअल्ला' शाहजहाँ को जितना भाता था उतना आगरे का 'किला' नहीं। शाहजहानाबाद एक प्रकार से शाहजहाँ की राजधानी ही था और इसी से उसका माहात्म्य भी प्रतिदिन बढ़ता गया।

उर्दू जबान का उर्दू-ये-मुअल्ला और फलतः शाहजहाँ से ऐसा कुछ संबंध रहा है कि लोग उर्दू को शाहजहाँ की चीज समझते हैं। और तो और 'फरहंगे आसफिया' के लेखक सैयद अहमद देहलवी से जानकार भी इसके प्रसंग में यही लिख जाते हैं कि

चूँकि यह जबान शाहजहाँ बादशाह के लश्कर में ईजाद हुई थी इसलिये यही नाम पड़ गया।

कुशल समझिए कि आपने 'लश्कर' से ही संतोष किया और इस प्रसंग में कहीं 'बाजार' का नाम नहीं लिया। लेते भी कैसे? निराधार और झूठ बात लिखने का साहस सब को

१—प्रोफेसर हामिद हसन कादिरी की दास्ताने तारीख उर्दू, प्रकाशक—लक्ष्मीनरायन अग्रवाल आगरा, सन् १९४१ई०, पृष्ठ ४।

२—वही, पृष्ठ ६।

तो नहीं होता परंतु नहीं, उर्दू का जादू उन पर भी काम कर गया और उन्होंने भी बड़े अभिमान से लिख दिया कि उर्दू का अर्थ है—

लश्करी बोली और हिंदुस्तानी। वह जबान जो अरबी, फारसी, हिंदी, तुर्की, अँगरेजी वगैरह सेमिल कर बनी है। जिसे उर्दू-ऐ-मुअल्ला भी कहते हैं। ठीक और फसीह उर्दू अहले देहली और अहले लखनऊ की खयाल की जाती है।

क्यों की जाती है? इसका उत्तर यही है कि ये ही दो शहर उर्दू हैं और इन्हीं का उर्दू पर अधिकार भी रहा है। किंतु आज? आज की कुछ न पूछिए। आज तो नीतिवश पढ़ाया यह जाता है कि वही सब की जबान है। यहाँ तक कि उर्दू के बाबा, मौलवी, डाक्टर अब्दुल हक साहब यहाँ तक लिख जाते हैं कि

उर्दू जबान की तारीख ऐसी साफ और खुली चीज है कि उस पर बहस करने या इस बयान के तरदीद (नष्ट) करने की मुतलक (सर्वथा) जरूरत नहीं मालूम होती। मुसलमान बादशाहों के दरबार और दफ्तर की जबान हमेशा फारसी रही। उनको इतनी तौफीक (श्रद्धा) सच्ची न हुई कि वह गरीब उर्दू की तरफ तवज्जह (ध्यान) फरमाते, और तवज्जह (दृष्टि) की तो किस वक्त? जब न सल्तनत रही, न हुकूमत। और जाहिर (प्रकट) है ऐसे वक्त में उनका असर (प्रभाव) ही क्या हो सकता है। उर्दू जबान जदीद हिंदी की तरह किसी ने बनाई नहीं। वह तो खुद ब खुद (अपने आप ही) बन गई। और उन कुदरती (प्राकृत) हालात ने बनाई जिन पर किसी को कुदरत (शक्ति) न थी। इसमें हिंदू और मुसलमान दोनों शरीक (जुटे) थे। और अगर हिंदुओं की इसमें शिरकत (मिलवन) न होती तो यह वजूद (स्थिति) ही में नहीं आ सकती थी। मुसलमान बादशाहों पर यों तो बहुत से इलजाम (दोष) आयद (प्रयुक्त) किए गए हैं लेकिन यह बिल्कुल (निरा) नया इलजाम है और हाल ही में गढ़ा गया है।[1]

माना कि उर्दू के संबंध में जो कुछ कहा गया है सवा सेर कहा गया है किंतु इसके विषय मे मौलवी हक का क्या कहना है? यही न कि जब बादशाह बनकर भी मुसलमान 'गरीब' रहा तो वह 'धनी' हो कैसे सकता है। रही असर या प्रभाव की बात। सो कौन नहीं जानता कि सन १८५७ की क्रांति में भी उसी की 'रणभेरी' बजी और कुछ न रहने पर भी उसकी ओर से अपने त्राता को जो 'आलीजाह' की उपाधि मिली उसी को गवालियर का शिंदे दरबार आज भी बड़ी आन से ढो रहा है और फिर भी आपका शिकार बन रहा है? जो हो, बात तो 'उर्दू की हकीकत' की थी। सो इस कथन से कुछ खुली नहीं। निदान इसके लिये सभी 'अलीगों' के उस्ताद प्रसिद्ध 'मुसलमान' नेता सर सैयद अहमद खाँ को लीजिए और उनकी भी भावभरी वाणी का सत्कार कीजिए। आपको समझाइस है—

जब कि शहाबउद्दीन शाहजहाँ बादशाह हुआ, और उसने इनतजाम सलतनत (राज्य-प्रबंध) का किया और सब मुल्कों के वकला (वकीलों, प्रतिनिधियों) के हाजिर रहने का हुक्म दिया और दिल्ली शहर को नये सिरे से आबाद किया और किला बनाया और शाहजहाँ

१—उर्दू-रिसाला, अंजुमन तरक्की उर्दू, देहली—अपरैल सन् १९३७ ई०, पृष्ठ ३८४।

आबाद उसका नाम रक्खा, उस वक्त इस शहर में तमाम लोगों का मजमा (जमघटा) हुआ। हर एक की गुफ्तार (बातचीत) रफ्तार (चालढाल) जुदा जुदा थी। हर एक का रंग-ढंग निराला था। जब आपस में मुआमिला (मामिला) करते लाचार एक लफ्ज अपनी जबान का दो लफ्ज उसकी जबान के तीन लफ्ज दूसरे की जबान के मिलाकर बोलते और सौदा-सुल्फ़ लेते। रफ्ता रफ्ता इस जबान ने ऐसी तरकीब पाई कि यह खुद एक जबान हो गई। और जो कि यह जबान खास बादशाही बाजारों में मुरव्वज (प्रचलित) थी इस वास्ते इसको जबान उर्दू कहा करते थे, और बादशाही अमीर उमरा इसी को बोला करते थे, गोया हिंदुस्तान के मुसलमानों की यही जबान थी। होते होते खुद इस जबान ही का नाम उर्दू हो गया। इस वक्त से इस जबान ने एक रौनक (रूप) हासिल (प्राप्त) की और दिन ब दिन तराश-खराश (बनाव-सिंगार) इसमें होती गई।'[1]

सर सैयद अहमद खाँ बहादुर मीर अम्मन से और भी आगे निकल जाते हैं और बढ़कर हाथ दिखाते हैं पर 'उर्दू' की वकालत में सर्वथा भूल ही जाते हैं कि वास्तव में कहते क्या हैं। भला जिस देश में राजा भोज और विक्रमादित्य की न सही, किसी अकबर की कथा घर-घर छाई हुई है और 'वीरबर' तथा 'अकबर' को 'दरबार' से निकाल कर 'घरबार' में बिठाए हुए है वही देश और वही कथा इस जग-उजागर सत्य को कैसे छोड़ दे और कैसे मान ले कि शाहजहाँ के पहले यहाँ के लोग आपस में बात-चीत और लेना-देना भी नहीं जानते थे? अरे! इसमें हिंदू ही नहीं, हिंदी मुसलमान ही नहीं, अपितु मुसलमान बादशाह और सूफी फकीर भी पिस जाते हैं। क्या निजामुद्दीन औलिया और अलाउद्दीन सुलतान मुँह में जाबा लगाकर रहा करते थे? सावधान! देखिए उर्दू के लिये क्या क्या अपराध नहीं गढ़ा जाता! साधु।

जो सर सैयदी गरोह से कुछ दूर की बात सुननी हो तो अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी की इस सलाह पर ध्यान दें और यहाँ उर्दू के और ही रंग को देखें। आप का साग्रह निष्कर्ष है—

अहले नजर (अभिज्ञ) से छिपा नहीं कि इस जबान की सहीह तारीख के समझने में मीर अम्मन देहलवी से लेकर सर सैयद बल्कि आजाद मरहूम तक जो गलतफहमी (भ्रांति) हुई कि यह लश्करी बोली है या बाजारी......उस गलती (भूल) का सबब सिर्फ लफ्ज उर्दू है। इसलिये इस नाम को बाकी रखना इस गलत तारीख का बाकी रखना है और इसकी असली तारीख को जो अब पाया-य-सुबूत (प्रमाणकोटि) को पहुँच चुकी है, बरबाद करना है।[2]

निवेदन है, जी नहीं। इसका कारण कुछ और ही है। वही जिसके कारण आप से भी कुछ ऐसी ही भूल हो रही है। सोचिए तो सही, मीर अम्मन को 'लश्कर' और 'बाजार' की शरण क्यों लेनी पड़ी। इसी लिये न कि 'उर्दू' सौदा-सुल्फ, लेन-देन और सबकी भाषा सिद्ध हो सके और आपको भी तो इसकी चिंता इसी निमित्त सता

१—असारुस्सनादीद, प्रथम संस्करण, जबान का बयान।
२—नुकूशे सुलैमानी, दारुल् मुसन्निफीन, आजमगढ़, सन् १९३९ ई०, पृष्ठ १०८।

रही है कि यह उर्दू से निकलकर सारे हिंदुस्तान को 'हिंदुस्तानी' बन सके ? परंतु स्मरण रहे कि उर्दू का इतिहास ऐसा नहीं कि अब कोई मुसलमान जैसा चाहे बना सके। कहिए तो सही बात क्या है कि सभी उर्दू के इतिहास में अपनी अपनी हाँक रहे हैं और कहते उसी को सर्वसिद्ध हैं। माना कि यह उर्दू की - शिक्षा है जो सत्य कर दिखाने में बड़ी ही निपुण है। परंतु इसी से यह भी कैसे मान लिया जाय कि उर्दू में उर्दू के विषय में जो कुछ कहा जाय वही प्रमाण है—नहीं, ऐसा हो नहीं सकता और अंत में विवश हो मानना ही पड़ेगा कि सचमुच 'उर्दू' शब्द या नाम ही 'उर्दू की जबान' का ऐसा पक्का पारखी है जिसके बिना इसका रहस्य खुल नहीं सकता। देखिए सच्ची बात है कि 'उर्दू की जबान' उर्दू में बनो और फोर्टविलियम में पहुँचकर गोरे नवाबों की कृपा और कूटनीति से चलकर वही 'हिंदुस्तानी' के नाम से सारे 'हिंदुस्तान' की बानी कही गई; परंतु जो लोग अँगरेजी प्रभाव वा कपट-राजनीति से दूर रहे वे सदा उसकी स्थिति को स्पष्ट कहते रहे और जैसे तैसे यह बताते रहे कि उर्दू का लगाव उर्दू-ये-मुअल्ला से है और वास्तव में उसी के लोग उसके अधिकारी भी हैं। सैयद इंशा की सनद पहले आ चुकी है अब मौलवी बाकर आगाह का पक्का प्रमाण लीजिए और कृपया भूल न जाइए कि वे अरबी के प्रकांड पंडित ही नहीं, उसमें धार्मिक पुस्तकों के लेखक भी हैं और साथ ही दक्खिनी में 'नुसरती' तथा उर्दू में 'सौदा' जैसे उस्तादों से अपने आपको कम नहीं समझते और रहते भी सुदूर दक्षिण या मद्रास में हैं। निदान आपके कहने पर ध्यान देना ही होगा और आपकी बात को प्रमाणकोटि मे लाना ही होगा, प्राचीनता के कारण भी आपको ही अधिक महत्त्व मिलेगा, क्योंकि आप मीर अम्मन से भी पुराने हैं। निदान आपका कहना है—

> वली गुजराती गजल रेखता की ईजाद में सभा का मुअ्तदा (अग्रणी) और उस्ताद है। बाद उसके जो सुखुन सजाने हिंद (हिंद के वाग्मी) बुरोज (प्रकट) किए बेशुब्हा (निःसंदेह) उस नहज (प्रणाली) को उससे लिए और मिन बाद (फिर से) उसको बासलूब खास (विशेष रीति) से मखसूस (निश्चित) कर दिए और उसे उर्दू के भाके से मौसूम (नामी) किए।[1]

इसमें तो सदेह नहीं कि मौलाना आगाह ने 'उर्दू के भाके से मौसूम किए' में स्पष्ट कर दिया है कि यह रीति-नीति जानबूझकर कभी बरती गई है, कुछ अपने आप ही हो नहीं गई है। साथ ही उन्होंने 'बासलूब खास' का भी निर्देश कर दिया है और यही विशेष प्रणाली उर्दू को हिंदी से अलग करने में कारण रही है, इसके १२ वर्ष बाद लखनऊ के नवाबी दरबार में (सन् १२२३ हि०, १८०८ ई० मे) सैयद इंशा ने भी इसी का प्रतिपादन किया और 'तसर्रुफ' को ही उर्दू का प्राण ठहराया। इन्हीं दोनों के बीच में फोर्ट विलियम कालेज के मुंशी मीर अम्मन की 'बाग वो बहार' का समय (सन्

१—मद्रास में उर्दू अदबियात उर्दू, सख्या ८१ हैदराबाद दकन, सन् १९१८ ई०, पृष्ठ ४७।

१२१५ हि०, १८०३ ई०) आता है, जिसमें उर्दू सब की लेन-देन सौदा-सुल्फ और बातचीत की भाषा बताई जाती और अपने आप ही लश्कर के बाजार में पैदा हो जाती है, परंतु याद रखना होगा कि मौलाना आगाह और भी कुछ बताते और उर्दू की स्थिति को आप ही बहुत कुछ स्पष्ट कर जाते हैं। सुनिए इनका और भी कहना है—

अवाखीर अहद मुहम्मदशाही (मुहम्मद शाह के अंतिम काल) से इस अमर (समय) तलक इस फन (कला) में अक्सर मशाहीर (विख्यात) शुअरा (कवि) अरसा (परंपरा) में आए और अकसाम मंजूमात (पद्य के भेदों) को जलवे (प्रकाश) में लाये हैं, मिस्ल दर्द, मजहर, फुगाँ।[1]

मौलवी बाकर आगाह की गवाही से बड़ा लाभ यह हुआ कि मुहम्मदशाह का शासन भी सामने आ गया और यह भी प्रकट हो गया कि यह 'ईजाद' किस विशेष युग में हुई। अब इसी को थोड़ा 'खुद ब खुद' के रूप में भी सुन लीजिए और सदा के लिये जान लीजिए कि उर्दू के लोग उर्दू के हित के लिये कितना और कैसा जाल रच सकते हैं। बात संयुक्त प्रांत की हिंदुस्तानी एकेडमी की है। उसी के एक संग्रह की भूमिका में कहा गया है—

अठारहवीं सदी के अवायल (आरंभ) में वली औरंगाबादी दकन से देहली आया। उस वक्त दौलत मुगलिया (मुगल साम्राज्य) की शौकत (विभूति) और दबदबे (आतंक) का आफताब (सूर्य) निस्फुल् निहार (मध्याह्न) से ढल चुका था। लेकिन देहली का दरबार अभी उन अमीरों और रईसों का मरकज (केंद्र) था जो ज्यादातर (अधिकांश) ईरानी, तूरानी नजाद (वंशज) थे, जिनकी मादरी जबान (मातृभाषा) फारसी थी। दरबार के लवाहिकीन (परिजन) और शहर के अहले इल्म (विद्यावान) फारसियत में डूबे हुए थे। उन लोगों ने वली का खैर मकदम (शुभागमन) किया और उसकी नज्मों (कविता) को हाथों हाथ लिया। उसकी शाइरी को पसंदीदगी (सुरुचि) की नजर (दृष्टि) से देखा, बल्कि बकौल बाजे (कुछ के कथनानुसार,) उन्हीं नज्मों की वजह से फारसी को छोड़कर उन लोगों ने बोलचाल की जबान को शाइरी का जरिया (साधन) बना लिया। जब अदब (साहित्य) के निखार से देहली की जबान सँवरनी शुरू हुई तो कुदरती तौर (प्राकृत ढंग) पर बोलचाल की जबान में तबदीली (हेरफेर) शुरू हुई। वह अल्फाज (शब्द) जिनमें हिंदी के खास हुरूफ (विशेष अक्षर) शामिल थे, और फारसी लफ्जों में इस्तैमाल (प्रयुक्त) नहीं होते थे जिनको फारसीदाँ अपनी जबान से बासानी (सरलता से) अदा न कर सकते थे, अदब (साहित्य) से खारिज (अलग) होने लगे। इसके अलावा (अतिरिक्त) वह अल्फाज (शब्द) भी जो अवाम (जन सामान्य) की जबानो पर चढ़े हुए थे और खवास (विशिष्ट जन) उनको बाजारी करार देते थे, मतरूक (परित्यक्त) होने लगे। इस तरह कट-छटकर देहली की टकसाली उर्दू जबान तैयार हुई, और उसकी गोद में उर्दू अदब की परवरिश होने लगी। मुहम्मदशाह के अहद से इनकी मुस्तकिल (निश्चित) तारीख शुरू होती है।[2]

मौलवी मुहम्मद मुबीन साहब 'कैफी' ने कहा वही है जो मौलाना बाकर 'आगाह' ने; किंतु दोनों के कथन में सब से बड़ा अंतर यह है कि एक उर्दू की

१—वही।

२—जवाहिर सुखुन, पहली जिल्द, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, सन् १९२३ ई०, पृष्ठ ४-५।

वकालत करता है तो दूसरा न्याय। मियाँ 'कैफी' भी मानते हैं कि उर्दू के धनी ईरानी-तूरानी दरबारी लोग ही थे पर वे भूलकर भी यह मानना नहीं चाहते कि उसके बनाने में उनका कुछ विशेष प्रयत्न भी था। नहीं, आज का कोई उर्दू-लेखक इसे मान नहीं सकता, यद्यपि उलटे सीधे प्रसंगवश कह वह भी यही जाता है। फारसी के लोग जिन हिंदी शब्दों वा अक्षरों का उच्चारण नहीं कर पाते थे उन्हें उर्दू में स्थान इसी से तो नहीं रहा कि उनपर विलायती लोगों की कृपा न थी? फिर इसको कोई भी विचारशील व्यक्ति 'कुदरती तौर पर' कैसे मान सकता है? यह तो सहज ढंग नहीं। हाँ, मौलवी 'कैफी' ने एक और भी पते की बात कही है और कहा है कि जो शब्द सब की जीभ पर चढ़े थे पर जिनको अमीर लोग 'बाजारी' बताते थे वे भी उर्दू से निकाल बाहर किए गए। तो भी आज कहा यही जाता है कि उर्दू 'बाजार' में पैदा हुई। सब के मेल-जोल से बनी। हाँ, बनी। पर ठीक वैसे ही जैसे आज का पाकिस्तान!

मुहम्मदशाह के शासन में उर्दू को ईजाद कैसे हुई इसकी छानबीन के पहले जानिए यह कि इस 'कटछट' के विषय में बड़े बूढ़ों का कहना क्या है। 'आगाह' और 'इंशा' को अलग रखिए और लीजिए इनसे भी पुराने-धुराने 'कायम' और 'हातिम' को। 'कायम' का अभिमान है—

> कायम मै गजल तौर किया रेखता वरना,
> एक बात लचर सी बजबान दक्किनी थी।

इस प्रकार जिस व्यक्ति ने दक्किनी की लचर चीज को पक्का बना दिया उसका कहना तो उर्दू के लोगों को भी अवश्य मान्य होगा और न भी हो तो भी यह तो मानना ही होगा कि यह उनके 'बुजुर्गों' का कथन है। अच्छा तो 'कायम' लिखते हैं—

> बर मुत्तबआने फने रेखता मख्फी व मुहतजब न मानद आँचिः अल्हाल अशआर व अहवाल शुअराय मुताख्खरीन नविश्तः मी आयद। तर्ज कलाम ईहा माना बरवीयः फारसी अस्त। चुनांचिः जमीअ सनाया शेरी कि करारदादः असातजः असलाफ अस्त बकार मी बुरद व अकसरे अज तरकीबात फुर्स कि माफिक मुहावरः उर्दू-ए-मुअल्ला मानूस गोश मी याबंद मिनजुमलः जवाजुल् बयान मी दानंद, इल्ला तरजुमान मुगल ब रेखतः करदन मकबूह अस्त। चिः दरीं सूरत सेहत जबान यके अज हर दो नमी मानद व अगर बाजे अज इस्तलाह कि जबान जद मर्दुम फुसहाय ईं दयार बुवद करदः आयद। चन्दां मुजायकः न दारद। अम्मा इत्तबाय व तकलीद-कसाने तबकः ऊला कि यक मिसरः शां रेखतः व दीगरे फारसी अस्त व दर बाजे मकाम रेखतः फारसी व अल्फाज गैर मानूस मखलूत हम साखतः मजमूम महज मी अंगारन्द।[1]

'कायम' ने फारसी में जो कुछ कहा है उसका अर्थ यह है कि रेखता की कला के जो लोग अनुयायी हैं उनको यह प्रकट और स्पष्ट होना चाहिए कि अब जो कुछ रचा या प्राचीन कवियों के बारे में लिखा जाता है वह सब फारसी के ढर्रे पर होता है। अतः कविता का

१—सौदा, अंजुमन तरक्की उर्दू, देहली, सन् १९३९ ई०, पृष्ठ २८-२९।

सारा ढाँचा वही रहता है जिसको पुराने लोगों ने बाँध दिया है। फारसी की बहुत सी योजनाएँ जो उर्दू-ये-मुअल्ला की बोलचाल के अनुकूल कान को भाती हैं और वर्णन करने के योग्य हैं और मुगलों की वाणी में उनका अनुवाद करना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि ऐसा करने से किसी भी भाषा की शुद्धता नष्ट हो जाती है, और बहुत सी परिभाषाएँ जो इस देश के शिष्टों के व्यवहार में हैं उनका प्रयुक्त होना अनुचित नहीं। किंतु ऐसे लोगों का अनुकरण करना जिनमें कुछ उर्दू (रेखता) का हो और कुछ फारसी का अथवा जिनमें फारसी के दुरूह शब्द मिलाए गए हों, अच्छा नहीं माना जाता।

ठीक है। 'कायम' ने 'रेखता' की मर्यादा का ध्यान रखा और उसको वहीं तक फारसी बनने दिया जहाँ तक वह अपनी आन पर कायम रहकर बन सकती है। परंतु जो बात उन्होंने विशेष की वह है 'उर्दू-ये-मुअल्ला' को प्रमाण मानना। और इससे भी अच्छा यह किया कि बड़ी सावधानी से 'मुगल' का उल्लेख कर दिया। सच तो यह है कि मुगल-दरबार ही उर्दू का अड्डा है और उर्दू-ये-मुअल्ला के सच्चे अधिकारी भी मुगल ही हैं। यही कारण है कि यह जन उर्दू को 'मुगलो बानी' मानता जानता आया है और यही आज सिद्ध भी होता जा रहा है। ध्यान से सुनिए। अब उर्दू के आदि उस्ताद बाबा हातिम की गवाही हो रही है। आप आप ही कहे जाते हैं कि

दरीं विला अजदह दवाजदह साल अकसर अलफाज रा अज नजर अन्दाख्तः लिसाने अरबी व जबाने फारसी कि करीबुल फहम व कसीरुल इस्तैमाल बाशद व रोजमर्रः देहली कि मिर्जायाने हिंद व फसीहाने रिन्द दर मुहावरः दारंद मंजूर दाश्तः।[1]

इस काल में ग्यारह-बारह वर्ष तक बहुत से शब्दों को त्याग कर अरबी और फारसी के शब्द जो समझ के निकट और प्रयोग में बहुत हैं और मुगल राजकुमारों तथा शिष्ट सूफियों के मुहावरे जो देहली की बोलचाल में है, स्वीकृत हुए।

शाह हातिम ने संग्रह और त्याग का उल्लेख स्पष्ट कर दिया और यह भी प्रकट कर दिया कि वास्तव में जो ग्यारह-बारह वर्ष से प्रयत्न चल रहा था उसी का यह दिव्य परिणाम है कि

(१) बहुत से शब्द त्याज्य हुए,

(२) अरबी और फारसी के शब्द आए, और

(३) मुगल राजकुमारों तथा शिष्ट सूफियों की भाषा प्रमाण बनी।

शाह हातिम ने त्यागने के विषय में जो कुछ लिखा है उसमें हमारे काम का इतना ही है कि

सिवाय आँ जबान हर दयार ता व हिंदवी कि आँ रा भाका गोयंद मौकूफ करदः।[2]

१—दीवानजादा की भूमिका से 'सौदा' (वही) पृष्ठ २६ पर अवतरित।

२—वही।

इसके अतिरिक्त सभी ओर की भाषा, यहाँ तक कि हिंदवी, जिसको भाषा कहते हैं, को भी छोड़ दिया।

हिंदवी भाषा का परित्याग यहीं से होने लगा और यहीं से उर्दू देश से घृणा कर बाहर से मदद लेने लगी और जान-बूझकर अरबी-फारसी का चरबा उतारा गया और यहीं यह भी स्पष्ट हो गया कि उर्दू एक ओर तो मुगल दरबार को लेकर आगे बढ़ी और दूसरी ओर उन सूफियों के सहारे जो लोकभाषा की अवहेलना कर सदा फारसी बूकते रहते थे। 'फसीहान' का यही तो आग्रह है। इस समय अन्य लोगों की भाषा के प्रति जो धारणा हो रही थी उसका निदर्शन नूरमुहम्मद की अनूठी रचना 'अनुराग-बाँसुरी' (साहित्य-संमेलन, प्रयाग) की भूमिका में किया गया है, अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि यहीं से राजनीति और मजहब की साठगाँठ से उर्दू आगे बढ़ी। अच्छा और उचित होगा कि यहीं ग्यारह-बारह वर्ष की लीला का भी रहस्य खोल दिया जाय और उर्दू के जन्म-काल का भी पता बता दिया जाय जिससे फिर किसी को इसके लिये बाजार या 'लश्कर' में न जाना पड़े। अच्छा, तो सीधो सी बात है कि दोवानजादा की रचना सन् ११६९ हि० में हुई अब इसमें से ११-१२ वर्ष निकाल दीजिए और डंके की चोट पर कह दीजिए कि उर्दू की ईजाद सन् ११५७-५८ हि० में हुई।

हम दिखा चुके हैं कि मौलाना 'आगाह' और मौलवी 'कैफी' ने उर्दू की भाषा के प्रसंग में मुहम्मदशाह का नाम लिया है और श्री 'आगाह' ने तो 'अंतिम काल' का निर्देश भी कर दिया है। अब उन्हीं के साथ शाह हातिम को भी जोड़ दीजिए और इन दृढ़ प्रमाणों पर फटकार कर कह दीजिए कि बस अब उर्दू की भलमनसी हो चुकी और उसकी नीति-रीति का पता भी चल गया। अब कुशल इसी में है कि धीरे से सचाई को स्वीकार कर लें और मूठ मूठ की बात बघाड़ना छोड़ दें। कागद की नाव बहुत चली। अब तो काठ की शरण लो और अपनी काठी का पक्का पता दो। देखो सौभाग्य की बात है। कोई उर्दू का सपूत आप ही कह गया है। कान देकर सुनो और आँख खोलकर पढ़ो। पक्की, खरी और सच्ची बात यह है कि

उमदतुलमुल्क ने और उमरा के मशविरा (परामर्श) से देहली में एक उर्दू 'अंजुमन' कायम की। उसके जलसे होते जबान के मसयले (प्रश्न) छिड़ते, चीजों के उर्दू नाम रखे जाते, लफ्जों और मुहावरों पर बहसें होतीं, और बड़े रगड़ों-झगड़ों और छान-बीन के बाद 'अंजुमन' के दफ्तर में वह तहकीकशुदा (संशोधित) अलफाज व महावरात (मुहावरे) कलमबंद (लिपिबद्ध) होकर महफूज (सुरक्षित) किए जाते; और बकौल 'सियरुल् मुताख्खरीन' इनकी नकलें हिंद के उमरा व रूसा (रईसों) पास भेज दी जातीं और वह उसकी तकलीद (अनुकरण) को फख्र (अभिमान) जानते और अपनी अपनी जगह उन लफ्जों को फैलाते।[1]

१—मुगल और उर्दू, एम० ए० उसमानी एंड संस फियर्स लेन कलकत्ता, सन् १९३३ ई० पृष्ठ ६०।

अदीबुल मुल्क नव्वाब सैयद नसीर हुसैन खाँ 'खयाल' ने जिस उर्दू अंजुमन का उल्लेख किया है, कृपा कर उसका काम भी बता दिया है और यह भी लिख दिया है कि उसका श्रेय किस अमीर को प्राप्त है। उमदतुल मुल्क से उनका तात्पर्य किस अमीर से है, इसका बोध आपको अभी अभी हो जाता है। यह और कोई नहीं, मुहम्मदशाह का कानलगा रसिया अमीर खाँ था। इसके राग-रंग के विषय में मौलाना हाली का रोना है—

मरदों में नव्वाब अमीर खाँ और औरतों में नूरबाई एक एक पर फबतियाँ कहते थे ; यहाँ तक कि बुरहानुल मुल्क और आसफजाह जैसे संजीदा आदमियों पर भी उनके वार चलते थे और उनको भी कभी कभी अपने वजा (ढब) के खिलाफ जवाब देना पड़ता था।[1]

जिन चार व्यक्तियों का नाम यहाँ आया है उनके ग्राम-धाम का पता यह है कि इनमें से प्रथम दो तो उर्दू का बाँकपन हमारे लिये छोड़ गए और आपस की फबतियों से उर्दू की ईजाद कर गए। रहे शेष दो। सो कौन नहीं जानता कि 'बुरहानुल मुल्क' (मुहम्मद अमीन = सआदत खाँ) अवध की नवाबी और 'आसफजाह' हैदराबाद राज्य के संस्थापक हैं। रसिया अमीर खाँ और नर्तकी नूरबाई ने उर्दू को जन्म दिया तो गभीर बुरहानुल मुल्क और विचक्षण आसफजाह ने उसे पाल-पोसकर सर्वप्रिय बनाया और फलत: आज भी उनका हैदराबाद उसको सर्वसुलभ बनाने की चिंता में लगा है। अब आप इसकी छाया में भली भाँति देख सकते हैं कि उर्दू की भाषा के बारे में मौलाना बाकर 'आगाह' और सैयद इंशा ने जो कुछ लिखा है वह कितना सटीक और यथार्थ है। प्रसंगवश इतना और जान लीजिए कि उमदतुल मुल्क 'अंजाम' नाम से स्वयं कविता भी करते थे और अंत में रँगीले मुहम्मदशाह के इशारे से २६ दिसंबर सन् १७४७ ई० को शहीद भी हो गए। मुहम्मदशाह को उनका रंग अधिक न रुचा और निदान उनका अंत हो गया। उधर हमने 'हातिम' की साखी पर ११५७-५८ हि० (१७४४-४५ ई०) को उर्दू की ईजाद का समय निकाला था। अस्तु, इसको साधु मानने में अब किसी को संदेह नहीं हो सकता। और अब भी मीर अम्मन की 'सुनी' को वही सुनकर साधु मान सकता है जिसका हज्ज 'फोर्ट विलियम' है। अन्यथा शोध के इस प्रकाश में अब उसको स्थान नहीं।

एक बात और। मौलाना 'आगाह' ने एक बात और भी बड़े ठिकाने की कही है और बताया है कि भाषा से रेखता और रेखता से उर्दू कैसे बनी। हम इसका विचार यहाँ नहीं करना चाहते, परंतु तो भी स्थिति के नाते उनके शिष्य का यह कथन आपके सामने रख देते हैं। देखिए, उनका शिष्य 'नामी' अपनी भाषा-नीति का कैसा परिचय देता है। उसका कथन है—

है इस मसनवी की जबाँ रेखता, अरब और अजम से है आमेखता।
नहीं सिर्फ उर्दू मगर है अयाँ, जबाने सुलैमान हिंदोस्ताँ।

१—मुकालात हाली, प्रथम भाग, अंजुमन तरक्की उर्दू, देहली, सन् १९३४ ई०, पृष्ठ १२३-४।

अगर बोलता ठेठ हिंदी कलाम, तो भाका था वह पुरबियों का तमाम।
जबाने दकन में नहीं मैं कहा, कि है वह जबाँ भी निपट बेमजा।[1]

इस अवतरण में 'ठेठ हिंदी' और 'दक्किनी' को जो अवहेलना हुई है सो तो आसफ़-जाही शासन का शुभ परिणाम है। पर टाँकने की जो बात है वह यह है कि नामी अभी 'उर्दू' को मिली जुली भाषा नहीं समझते और इस आसन पर अभी रेख़ता को ही आसीन देखना चाहते हैं। कारण, उसी को अरबी-फारसी से युक्त हिंद की प्रमुख भाषा समझते हैं। निदान, भूलना न होगा कि अरबी-फारसी के मेल से 'रेख़ता' बनो, कुछ उर्दू नहीं। मेल का अर्थ 'मिलाप' समझने की भूल कभी मत कीजियेगा हाँ, संतोष के लिये मिलावट भले ही समझ लें। अरबी-फारसी शब्दों का मेल-जोल किस भाषा में नहीं हुआ है जो इसके लिये उर्दू का गुणगान किया जाता है? समझ का ऐसा दुरुपयोग!

अच्छा! तो एक बार फिर जता देना है कि 'उर्दू' का अर्थ 'बाजार' नहीं और चाहे जो हो। तनिक सोचिए तो सही 'उर्दू बेगनी' का अर्थ क्या है। मीर अम्मन उसी 'बाग़ वो बहार' पृष्ठ ८८ में लिखते हैं—

दाई फिर बाहर आई और मुझे अपने साथ, जिस महल में बादशाहजादी थी, ले गई। क्या देखता हूँ कि दो रवीया सफ्फ़ (पंक्ति) बांधे दस्तबस्ता (करबद्ध) सहेलियाँ और खव्वासें और उर्दाबेगनियाँ, किलमाकनियाँ, तुरकनियाँ, हबशिन्यियाँ, उजबकनियाँ, कशमीरनियाँ जवाहिर में जबी ओहदे लिए खड़ी हैं। इंदर का अखाड़ा कहूँ या परियों का उतारा।

इनमें से हमारे काम की 'उर्दाबेगनियाँ' ही विशेष हैं, क्योंकि हमें उर्दू से ही काम पड़ा है और उर्दू के लोग उसे बाजार की चीज बताना चाहते हैं। तो क्या आप इस उर्दू को भी किसी 'बाजार' का द्योतक समझते हैं? नहीं, ऐसा न करें। नहीं तो सचमुच बड़ा अनर्थ हो जायगा। कारण कि 'उर्दाबेगनियाँ' कंचनियाँ नहीं हैं कि मन बहलावें। नहीं इनका काम तो कुछ और ही है। सुनिए 'उर्दू' नहीं 'उर्दाबेगनी' का परिचय है—

वह मर्दाना लिबास की हथियारबंद औरत जो शाही महलों में पहरा चौकी देती और हुक्म अहकाम पहुँचाती है। सिपाही औरत, शाही महलों मे इहतिमाम (प्रबंध) करनेवाली तुरकनी।[2]

'उर्दाबेगनी' में 'उर्दा' का अर्थ क्या है इसका निश्चय तभी हो सकता है जब आप इतना और जान लें कि

जबान के तालिबों को बताना है कि शाहजहाँआबाद की औरतों की जबान मर्दों के सिवा सारे हिंदुस्तान की औरतों की जबान से फसीह है। उनकी एक अपनी ही जबान और असलूब (ढंग) है। जो लफ्ज उनमें रिवाज पा गया उर्दू हो गया ख्वाह वह अरबी हो या फारसी, सुरयानी हो या तुर्की, पंजाबी हो या पूरबी, माड़वाड़ी हो या दक्खिनी बुंदेलखंडी या कहीं का हो।[3]

१—मद्रास में उर्दू, पृष्ठ ७५।
२—फरहंगे आसफिया।
३—दरिया-ये-लताफ़त, पृष्ठ १७०-७१।

इसी से तो 'रेखती' की भाषा अधिक सरल, सुबोध और सजीव है ? पर प्रसंग उर्दू का है। अतः कहना पड़ता है कि यहाँ भी 'उर्दू' का लगाव अंतःपुर से ही अधिक है कुछ लश्कर या 'बाजार' से नहीं। कोई कुछ भी कहता रहे पर सच तो यह है कि यह उर्दा शब्द भी उसी प्रकार 'उर्दू' का पर्याय है जिस प्रकार उर्दा। स्मरण रहे राजस्थान में 'उर्दाबेगनियाँ' का उच्चारण 'उड़दाबेगनियाँ' होता है और नव्वाब सदरयार जंग बहादुर का कहना है—

चंगेज खां और हलाकू की धाक एक आलम में बैठी हुई थी। कयास है इसी असर से यह लफज रूस के मुल्क में पहुँचा। उर्दा के रूप में वहाँ से यूरप में आया और 'होर्ड' बन गया।[1]

कुछ भी हो, सीधी पर खरी बात यह है कि 'उर्दू की जबान' में उर्दू का अर्थ है 'उर्दू-ये-मुअल्ला' यानी शाहजहानाबाद का 'किला मुअल्ला' यानी मुगलपुरो। कुछ निरी लशकर या 'बाजार' नहीं।

१—मकालात उर्दू, पृष्ठ ६६।

कवींद्राचार्य सरस्वती

श्री बटेकृष्ण बी० ए० (आनर्स), एम० ए०

(अनुसंधायक अनुशीलन-विभाग, श्री सिंहानिया छात्रवृत्ति-महीला)

सर्वविद्यानिधान कवींद्राचार्य सरस्वती संस्कृत और हिंदी दोनों के विद्वान् थे। किंतु संप्रति संस्कृतवालों का जितना ध्यान उनपर गया हिंदीवालों का उतना नहीं। कवींद्राचार्य का झुकाव संस्कृत की ओर ही अधिक था भी। थे भी वे काशी की संस्कृतज्ञ विद्वन्मंडली के सिरमौर, प्रमाणपत्र-प्राप्त। एक ओर थे वे जनता और पंडित-समाज के श्रद्धाभाजन दूसरी ओर दिल्लीपति पूज्यपाद[1]। हिंदी के कवियो में उनका नाम तो बहुत दिनों से सुना जाता रहा है, किंतु उनके किसी विशिष्ट ग्रंथ के सामने न आने से उनकी विशेष चर्चा हिंदी के इतिहासों में नहीं हुई। इसका यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृत के विद्वानों के समान हिंदीवालों ने उनका संमान नहीं किया। संस्कृतवालों की ही भाँति हिंदी के समसामयिक कवियों ने भी उनकी बहुत प्रशंसा की है। यदि संस्कृत में उनकी प्रशस्तियों का संग्रह 'कवींद्रचंद्रोदय' के नाम से विख्यात है तो हिंदी में 'कवींद्रचंद्रिका' के नाम से। इसमें काशीस्थ अट्ठाईस[2] कवियो की रचनाएँ उनकी प्रशंसा में हैं। उन कवियों में कुछ ऐसे भी हैं जिनकी संस्कृत की रचनाएँ 'चंद्रोदय' में भी हैं। जैसे, जयराम, विश्वंभर मैथिल, धर्मेश्वर, रघुनाथ, त्वरितकविराय। उक्त 'कवींद्रचंद्रिका' अधुना बीकानेर की श्री अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में सुरक्षित है।

---

१ – दिक्कालयोर्व्योम्नि तथात्मपुञ्जे यद्वैभव वाचनिक तदस्ति।
प्रत्यक्षगम्य तु भवत्प्रभुत्वं कवीन्द्र ! दिल्लीपतिपूज्यपाद ! ॥ २१६ ॥

—कवींद्रचंद्रोदय, पृष्ठ ३३।

२—'कवींद्रचंद्रिका' के कवियों के नाम ये हैं—(१) सुखदेव, (२) नदलाल, (३) मीष, (४) पडितराज, (५) रामचद्र, (६) कविराज, (७) धर्मेश्वर, (८) हरिराम, (९) रघुनाथ (१०) विश्वंभरनाथ मैथिल, (११) शंकरोपाध्याय, (१२) भैरव, (१३) सीतापति त्रिपाठी-पुत्र मणिकंठ, (१४) मगद, (१५) गोपाल त्रिपाठी-पुत्र मणिकठ, (१६) विश्वनाथराम, (१७) चिंतामणि, (१८) देवराय, (१९) कुलमणि, (२०) त्वरितकविराज (२१) गोविंद भट्ट, (२२) जयराम, (२३) वशीधर, (२४) गोपीनाथ, (२५) राम, (२६) जादवराय, (२७) जगतराय, (२८) चद्र। —देखिए नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७, अंक ३-४, पृष्ठ २७१।

पडितराज कवि (४) संस्कृत के प्रसिद्ध पडितराज रसगंगाधर के कर्ता हैं या दूसरे कोई, यह नहीं कहा जा सकता। यदि वे ही हैं तो इनकी रचना का 'चंद्रोदय' में न होना संदेहास्पद अवश्य है, क्योंकि ये संस्कृत के कवि पहले थे। इनकी हिंदी की रचना उतनी ही है जितनी 'चंद्रिका' में इनके नाम पर मिलती है।

जीवनवृत्त

कवींद्राचार्य सरस्वती गोदावरी-तट पर बसनेवाले दक्षिणी ब्राह्मण थे। पुण्यभूमि[1] उनकी जन्मस्थली थी। वे 'ऋग्वेद' की आश्वलायन शाखा[2] के पूर्ण पंडित थे और इसी शाखा के थे भी। बचपन में ही उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और वे अपना घरबार त्याग काशी आ बसे।[3] उनके काशी-निवास का कारण निजामशाही राज्य पर शाहजहाँ का अधिकार हो जाना भी बताया जाता है।[4] उन्होंने षडंगों सहित वेदों और शास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया और तदनंतर संन्यास ग्रहण कर वे आजीवन अविवाहित ही रह गए[5]। काशी में वे वरुणा नदी के तट पर रहते थे और उनका स्थान 'वेदांती का बाग'[6] के नाम से प्रसिद्ध हो गया था, जो अब भी उसी नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि वहाँ के प्राचीन अवशेष अब लुप्तप्राय हैं तथापि वहाँ के निवासियों का कहना है कि पहले यहाँ संन्यासियों की कुटियाँ थीं और नगर से बहुत से व्यक्ति वेदांत पढ़ने आते थे। आज से कुछ वर्ष पहले (संभवतः दस बारह वर्ष पूर्व) यह स्थान एक संन्यासी के ही पास था। यह स्थान चौकाघाट की रामलीलावाले मैदान के पीछे रेलवे लाइन के पार है। वरुणा इसके नीचे ही बहती है। संप्रति पुराने पत्थरों और ईंटों को जोड़कर एक राममंदिर इस स्थान पर बना लिया गया है। ये बातें उक्त स्थान के निरीक्षण से ज्ञात हुई हैं।

शाहजहाँ के समय में हिंदुओं से तीर्थ-स्थानों में, विशेषकर काशी और प्रयाग में, यात्री-कर लिया जाता था। हिंदू जनता के लिये यह बहुत ही अपमानजनक तथा कष्ट-कारक था। अतः काशी के विद्वानों ने इससे मुक्त होने के हेतु कवींद्राचार्य सरस्वती के नायकत्व में भारत-सम्राट् शाहजहाँ के पास प्रतिनिधि-मंडल भेजा। सम्राट् के संमुख उन्होंने जब यात्री-कर से पीड़ित प्रजा की करुण कथा कहनी आरंभ की तो सम्राट् और दाराशिकोहसहित सारे दरबार की आँखें डबडबा आईं[7]। उनके भाषण का इतना

१—कुछ लोग इसे पुण्यभूमि भी पढ़ते हैं, किंतु श्री अनंतकृष्ण शास्त्री इसे पुण्यभूमि ही मानते हैं। —देखिए कवींद्राचार्य सूचीपत्र, इंट्रोडक्शन (पी० एस०), पृष्ठ १।

२—गोदातीरनिवासी परचार्येनाश्रिता काशी।

ऋग्वेदीयाभ्यस्ता साङ्गा शाखाश्वलायनी गग्ता ॥४॥ - कवींद्रचंद्रोदय, पृष्ठ १।

३—निःस्पृहता विषयेभ्यः परनिजजनताभिमानेभ्यः।

प्राप्ता शैशवसमये विश्वेशानग्रहाद्हृदये ॥ ५ ॥—वही, पृष्ठ १।

४—देखिए कवींद्राचार्य सूचीपत्र, डा० गंगानाथ झा का 'फोरवर्ड', पृष्ठ ४। इतिहास के अनुसार यह घटना संवत् १६८६ वि० (सन् १६३२ ई०) की है।

५—देखिए कवींद्राचार्य सूचीपत्र, इंट्रोडक्शन (पी० एस०), पृष्ठ १।

६—कवींद्राचार्य सूचीपत्र के आरंभ में ही लिखा है—(सूची) सर्वविद्यानिधान कवींद्राचार्यसरस्वतीनाम् (ग्रंथसंग्रहस्य) वेदांती का बाग—वरुणीतट—बनारस।

७—कवींद्राचार्य सूचीपत्र, फोरवर्ड, पृष्ठ ५।

गहरा प्रभाव पड़ा कि शाहजहाँ ने उक्त कर तो तुरंत उठा ही दिया, उन्हें 'सर्वविद्यानिधान' की उपाधि से भी विभूषित किया।[१] फराँसीसी यात्री बर्नियर के पत्रानुसार तो उन्हें दो हजार रुपए वार्षिक भी मिलने लगे।[२] उनकी इस विजय से जनता हर्षोन्मत्त हो उठी। दिग्दिगंत में उनकी कीर्ति व्याप्त हो गई। उनकी विद्वत्ता देखकर उन्हें 'कवींद्र' की सत्पदवी से अलंकृत किया गया।[३] संन्यासियों और पंडितों द्वारा वे आचार्य माने गए।[४] यह कवींद्राचार्य के जीवन की महान् घटना थी।

इसी समय से मुगल-दरबार में उनका प्रवेश हो गया और वे दाराशिकोह के पंडित-समाज के प्रधान बना दिए गए।[५] संवत् १७१५ वि० (सन् १६५८ ई०) में शाहजहाँ के बंदी हो जानेपर उनकी वार्षिक वृत्ति औरंगजेब ने बंद कर दी और उसके साल भर बाद ही उनका विद्वान् एवं उदार आश्रयदाता दारा भी संसार से विदा कर दिया गया। वे नहीं चाहते थे कि शाही वृत्ति बंद हो। अतः उसे फिर से चालू कराने के लिये वे किसी व्यक्ति की सहायता खोजने लगे। दिल्ली में दानिशमंद खाँ ही अकेला ऐसा था जिसमें दारा के वध की घोषणा का विरोध करने का साहस था। दारा के आश्रितों के प्रति उसकी समानुभूति थी। इसी दानिशमंद खाँ के यहाँ बर्नियर भी रहता था, जिससे कवींद्राचार्य का परिचय था। उसे साधकर वे उस तक पहुँचे। वे समझते थे कि दानिशमंद खाँ अपने व्यक्तिगत प्रभाव से मेरी बंद वृत्ति फिर से चालू करा देंगे। किंतु इस कार्य में वे कहाँ तक सफल हुए, कहा नहीं जा सकता। कवींद्राचार्य तीन वर्ष तक बर्नियर के साथ रहे। संवत् १७२४ वि० (सन् १६६७ ई०) के पत्र में बर्नियर ने अपनी काशी-यात्रा के वर्णन में उनके सहयोग से किसी बृहत् पुस्तकालय (युनिवर्सिटी लाइब्रेरी) में काशी के छह बड़े पंडितों के साथ अपने वार्तालाप की बात लिखी है। दानिशमंद खाँ के यहाँ कवींद्राचार्य कब तक थे, नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक उसकी मृत्यु तक रहे होंगे, जो संवत् १७२७ वि० (सन् १६७० ई०) में हुई।[६]

कवींद्राचार्य को रूप, गुण, यश, धन, विद्या आदि सब कुछ प्राप्त थे। फिर भी उन्हें संन्यास ही पसंद था। उनके पास धन दान के लिये ही था और गुण तथा विद्या

१—विजितमहीतलतस्मै दत्तं विद्यानिधानपदमस्मै।—कवींद्रचंद्रोदय, श्लोक ८, पृष्ठ १।

२—देखिए पी० के० गोडे का 'बर्नियर ऐंड कवींद्राचार्य सरस्वती ऐट दि मुगल कोर्ट' नामक निबंध; एनल्स आव् दि श्रीवेंकटेश्वर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, तिरुपति, भाग १, संख्या ४, पृष्ठ ४।

३—बुद्ध्वा विबुधाधिकतां दत्ता यस्मै कवीन्द्रसत्पदवी।
यवनकरग्रहवाब्धौ मग्ना येनोद्धृता पृथिवी॥ ७॥—कवींद्रचंद्रोदय, पृष्ठ १।

४—आचार्याह्वयसहितं यतिबुधवृन्दैर्महीतले महितम्॥ ८॥ वही, पृष्ठ १।

५—देखिए पी० के० गोडे का उक्त निबंध, पृष्ठ ११।

६—वही, पृष्ठ ६ से १२ तक।

परोपकार के निमित्त। न जाने कितने विद्वान् उनकी सहायता की अपेक्षा करते थे, धन की भी और विद्या की भी। वे सुगठित शरीरवाले संन्यासी रेशम का श्वेत (कषो) वस्त्र पहनते थे, जो घुटनों तक लटकता रहता था और लाल रंग का बड़ा रेशमी वस्त्र उनके कंधों पर ऊर्ध्ववस्त्र की संज्ञा पाता था। इसी वेश में वे दिल्ली के सरदारों और सम्राट् से दरबार में मिलते थे। कभी पालकी पर निकलते थे, कभी पैदल।

उनकी उपाधियों का ऐसा प्रचार है कि उनके वास्तविक नाम का पता ही नहीं चलता। 'कवींद्रचंद्रोदय'-कार श्रीकृष्ण का कहना है कि सर्वविद्यानिधान के साथ साथ 'कवींद्र' और 'आचार्य' भी उपाधियाँ ही हैं।[1] महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री उन्हें विद्यानिधि कवींद्र कहते थे।[2] कहा नहीं जा सकता कि वास्तव में वे 'विद्यानिधि' थे या कवींद्र। संभव है उनके विद्यानिधित्व को सार्थक करने के लिये शाहजहाँ ने उन्हें सर्वविद्यानिधान कह दिया हो। किंतु लोग उन्हें कवींद्र ही कहते थे और आज भी इसी नाम से उन्हें अभिहित किया जाता है।

रचनाएँ

काशी के पंडिताग्रगण्य कवींद्राचार्य सन्यासी के घर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों भेदभाव भूलकर मेल से रहती थीं। उनके लक्ष्मीपतित्व की चर्चा तो प्रशस्तियों में बहुत मिलती है, किंतु उनके रचे ग्रंथों की तालिका खोज से ही तैयार हो सकी है। थियोडोर आफ्रेक्ट के 'कैटलागस कैटलागोरम' में इसका विवरण है। उसमे कवींद्र तो कई दिखाई देते हैं, किंतु दो कवींद्र—कवींद्र आचार्य सरस्वती और कवींद्र विद्यानिधि—मूलतः एक ही प्रतीत होते हैं। कवींद्र आचार्य सरस्वतीविरचित इतने ग्रंथ बताए गए हैं—

१—कवींद्रकल्पद्रुम।

२—पदचंद्रिका दशकुमार टीका।

३—योगभास्कर योग।

४—शतपथ ब्राह्मण भाष्य।

५—हंसदूत काव्य।

'कवींद्रकल्पद्रुम' बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी में है (संख्या ४०२८), जिसके विषय इस प्रकार हैं[3]—गणेशस्तोत्रकीर्तनम्, गंगास्तोत्रकथनम्, यमुनास्तोत्रम्, वितस्तास्तोत्रम्, सूर्य्यस्तोत्रम्, शिवस्तोत्रम्, भवानीस्तोत्रम्, नृसिंहरूपवर्णनम्, श्रीकृष्णरूपवर्णनम्, रामचंद्ररूपवर्णनम्, हनुमत्स्तोत्रम्, प्रास्ताविकश्लोककथनम्,

१—देखिए कवींद्रचंद्रोदय, पृष्ठ १।

२—दि इंडियन ऐंटिक्वेरी, जनवरी सन् १९१२ ई०; पृष्ठ ११-१२।

३—देखिए श्री पी० के० गोडे का उक्त निबंध।

शिबिकागमनवर्णनम्, पत्रावलंबनपद्यकथनम्, पत्रप्रशस्तिवर्णनम्। दंडीकृत 'दशकुमारचरित' की कवींद्राचार्यविरचित 'पदचंद्रिका टीका' बंबई के निर्णयसागर प्रेस से संवत् १९४० वि० (सन् १८८३ई०) में प्रकाशित हो चुकी है। श्री पी० के० गोडे के कथनानुसार 'हंसदूत काव्य' कवींद्राचार्य का नहीं है।[1] गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज में प्रकाशित 'कवींद्राचार्य-सूचीपत्र' में 'ऋग्वेद' पर उनकी लिखो नैयायिक शब्दावलीयुक्त एक टीका का भी उल्लेख है।[2] उपर्युक्त सूची के चौथे ग्रंथ से उसका कोई संबंध हो तो हो सकता है।

कवींद्र विद्यानिधि के नाम से उल्लिखित दोनों ग्रंथों में से पहला 'कवींद्रचंद्रोदय पद्यावली'[3] कवींद्राचार्यरचित नहीं है, यह विभिन्न विद्वानों द्वारा की गई उनकी प्रशंसा का संग्रह है, जिसके संग्रहकर्ता कोई श्रीकृष्ण हैं। दूसरे ग्रंथ 'वृत्तादर्पण' के विषय में अभी कुछ कहना संभव नहीं।

यह तो उनकी संस्कृत की कृतियों का विवरण हुआ। हिंदी में भी उनकी कई रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, हिंदी के इतिहासों में उनके विषय में बहुत कम लिखा है। किंतु हिंदी के इतिहासों में ही उनका सबसे पहले उल्लेख हुआ है—यह अब कहा जाता है। सर्वप्रथम 'शिवसिंह-सरोज'[4] में, जिसकी रचना संवत् १९३४ वि० में हुई थी, उनके विषय में कहा गया है—

> "यह कवींद्राचार्य महाराज संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में अपने समय में भानु थे। शाहजहाँ बादशाह के हुक्म से भाषा-काव्य बनाना आरंभ किया और बादशाही आज्ञा के अनुसार कवींद्रकल्पलता नाम ग्रंथ भाषा में रचा, जिसमें बादशाह के पुत्र दाराशिकोह और बेगम साहबा की तारीफ़ में बहुत कवित्त हैं।"[5]

'मिश्रबंधुविनोद' के अनुसार इस ग्रंथ में कुल एक सौ पचास छंद हैं।[6] 'सरोज'-कार ने उनका समय सं० १६२२ दिया है। यह ईसवी सन् ही होगा। हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की 'खोज' में इस ग्रंथ का उल्लेख नहीं है। श्री मिश्रबंधुओं के छंद-संख्या बताने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ उनके देखने में कभी आया होगा। उन्होंने जो छंद उद्धृत किया है वह भी 'शिवसिंह-सरोज' में उद्धृत छंद से भिन्न है। अब तक उनके

१—वही।

२—श्री आर० अनंतकृष्ण शास्त्री का इंट्रोडक्शन, पृष्ठ ६ की पादटिप्पणी।

३—पूने की ओरियंटल बुक एजेंसी से प्रकाशित, संपादक—डा० हरदत्त शर्मा तथा एम० ए० पैटकर।

४—सातवाँ संस्करण, पृष्ठ ३८६।

५—श्री जार्ज ग्रियर्सन ने अपने 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ् हिंदुस्तान' में कवींद्राचार्य का उल्लेख इसी आधार पर किया है। उन्होंने उनका उपस्थिति-काल सन् १६५० ई० माना है। देखिए संख्या १५१, पृष्ठ ६४।

६—द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४५१।

जितने ग्रंथ हिंदी में मिले हैं उनमें यही ग्रंथ ऐसा है जिसमें उनके किसी आश्रयदाता का वर्णन है।

हिंदी में उनका दूसरा ग्रंथ 'योगवासिष्ठसार' है। कवींद्राचार्य 'योगवासिष्ठ' के भी महान् पंडित थे। काशीनिवासियों की ओर से किए गए अभिनंदन में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

अष्टादश पुराणानि तथा सर्वा अपि स्मृतीः।
योगवासिष्ठविज्ज्येष्ठः श्रीकवींद्रसरस्वती ॥ १७५ ॥[1]

'कवींद्राचार्य सूचीपत्र' में भी इस नाम के एक ग्रंथ का उल्लेख है। उसमें एक विलक्षणता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें 'योगवासिष्ठसार' के आदि का 'योग' पीछे हो गया है।[2] इस ग्रंथ की कई प्रतियाँ 'खोज' में प्राप्त हो चुकी हैं। तीन प्रतियाँ तो काशी नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में ही सुरक्षित हैं। दो प्रतियाँ लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम में भी विद्यमान हैं।[3] यह ग्रंथ दश प्रकरणों में विभक्त है और ग्रंथकर्ता ने इसका नाम 'ज्ञानसार' रखा है। इसका रचना-काल संवत् १७१४ वि० है, जब शाहजहाँ बंदी हो चुका था। इसके अंतिम छंद विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनमें ग्रंथकर्ता के विषय में भी कुछ बातें कही गई हैं। वे छंद ये हैं—

संवत्सत्रह सै बन्यों चौदै ऊपर वर्ष।
फाल्गुन बदी (सुदी) येकादसी भयो विष्णु (विधु) के हर्ष ॥ २५ ॥
परमेश्वर कौं पाइ कौ परम कृपा कौ तेस।
बरनौ मथ अनभौ लियै अरु गुर के उपदेस ॥ २७ ॥
कवींद्र सुरस्वती संन्यासी। पंडित ज्ञानी कासी का बासी।
अर्थ उपनिषद नीके जा (जानि)। लियो परब्रह्म पहिचानि।
उन यह ग्रंथ भलौ बनायौ। याहि बनावत बहु सुख पायौ ॥ ३० ॥
ज्ञानसार है याकौ नाम। ज्ञानी पावै सुनि सुखधाम।
जौ लौं रहिहै भूमि आकास। तौ (लौं) ज्ञानसार प्रकास (परगास) ॥ ३२ ॥
चारि वेद (चारि) जुग जौ लौं। ज्ञानसार यह रहिहै तौ लौं ॥ ३३ ॥

इति श्री सर्वविद्यानिधान कवींद्राचार्य सरस्वती विरंचिते भाषा जोगवसिष्ठसार दसम प्रकर्ण ॥ १० ॥[4]

कोष्ठक में दिए हुए पाठ सन् १९२० ई० की खोज रिपोर्ट के उन्यासीवें विवरण

१—कवींद्रचंद्रोदय; पृष्ठ २४।

२—पृष्ठ ६, संख्या १२१।

३—देखिए जे० एफ० ब्लूमहर्ट का कैटलाग आव् दि हिंदी, पंजाबी ऐंड हिंदुस्तानी मैनस्क्रप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आव् दि ब्रिटिश म्यूजियम; ८२ (चार); १०८ (पाँच)।

४—संख्या १६८, बस्ता ५१, याज्ञिक-संग्रह (सभा)।

(पृष्ठ २६८) के हैं और सभी प्रतियों से अच्छे हैं। उस प्रति में संस्कृत के श्लोक भी दिए हैं, जो अन्य प्रतियों में नहीं हैं। निर्माण-काल के छंद में बदी सुदी का भेद विशेष ध्यान देने योग्य है। पंजाब के हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों के (सन् १९२२ ई० के) खोज-विवरण[1] में उल्लिखित 'योगवासिष्ठसार' की प्रति भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें कवींद्राचार्य की शाखा और जन्म-स्थान का भी उल्लेख है। दुःख है कि इस प्रति का अब पता नहीं चल सकता।

उनका तीसरा ग्रंथ 'समरसार' कहा जाता है, जिसके मंगलाचरण मात्र में एक स्थान पर उनका नामोल्लेख है। यह ग्रंथ कवींद्राचार्य का ही है, अमेठी राज्याधीश गुरुदत्तसिंह के आश्रित 'कवींद्र' का नहीं, यह इसके अंत के एक दोहे से व्यक्त है, जिसमें रचनाकार के संस्कृतज्ञ होकर भाषा में रचना करने के हलकेपन का उल्लेख है। दोहा यह है—

समरसार भाषा रच्यो छमियो बुध अपराध।
प्रकट कियो जाने बरे जोतिष जगम अपार॥ २॥[2]

'समरसार' का उल्लेख 'सूचीपत्र'[3] में भी है। संभवतः वह संस्कृत का होगा। हिंदी का 'समरसार' ग्रंथ संप्रति श्री काशिराज के 'सरस्वती भंडार' में है। इसका लिपि-काल संवत् १८३३ वि० है। इसी साल जनगोपालविरचित 'समरसार' की भी प्रतिलिपि उक्त राज-पुस्तकालय के लिये काशी के दुर्गाकुंड पर की गई थी। कवींद्र के 'समरसार' का रचना-काल 'मिश्रबंधु-विनोद'[4] में सं० १६८७ दिया है। यह संवत् ही होगा, सन् नहीं।

उनके हिंदी या संस्कृत के किसी भी ग्रंथ में दारा को छोड़कर दूसरे आश्रयदाता का उल्लेख नहीं है। 'योगवासिष्ठसार' संवत् १७१४ वि० में रचा गया। उस समय वे बादशाही सेवा से हट चुके थे। अतः उनका यह ग्रंथ किसी की इच्छा के अनुसार रचा गया नहीं जान पड़ता, 'स्वांतःसुखाय' ही बना जान पड़ता है। 'समरसार' की भी यही स्थिति है।

समय

कवींद्राचार्य के जन्म और मरण की तिथियों के अज्ञात होने से उनके समय की कोई निश्चित सीमा नहीं बाँधी जा सकती। वे शाहजहाँ के समकालीन थे—यह स्पष्ट है। उनके ग्रंथों में उपलब्ध सबसे पुरानी तिथि 'कवींद्रकल्पद्रुम' की लंदनस्थ इंडिया आफिसवाली प्रति (संख्या ३९४७) के प्रथम पृष्ठ का लिपि-काल संवत् १७०७ वि०

१—पृष्ठ ३८, संख्या ५३।
२—खोज रिपोर्ट, सन् १९०३, संख्या ३९।
३—देखिए इसका पृष्ठ १५, संख्या ८४३।
४—द्वितीय भाग, पृष्ठ ४०५।

(सन् १६५० ई०) है।[1] दूसरी तिथि संवत् १७१३ वि० (सन १६५६ ई०) है। यह 'धर्मप्रवृत्ति' ग्रंथ की उस प्रतिलिपि का समय है जो उनके पुस्तकालय के लिये किसी श्रीकंठ नामक व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत की गई थी। अधुना यह प्रतिलिपि बड़ौदा राजकीय पुस्तकालय में संख्या १०५५४ में सुरक्षित है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि संवत् १७१३ वि० तक उनके पुस्तकालय की स्थापना हो चुकी थी। संवत १७१४ में ही शाहजहाँ बंदी हो गया था। अतः वह समय उनकी प्रौढ़ावस्था का रहा होगा। शाहजहाँ का शासन-काल संवत् १६८५–१७१४ (सन् १५२८–५८ ई०) तक है। श्री पी० के० गोडे ने बर्नियर का वृत्तांत मिलाकर उनका समय संवत् १६५७—१७३२ वि० (सन् १६००–७५ ई०) माना है। 'समरसार' का समय भी इसी बीच पड़ता है।

हिंदी में कृष्णजीवन लछीराम नाम के एक कवि हुए हैं जिन्होंने अपना 'करुणाभरण नाटक'[3] कवींद्राचार्य को दिखा उनसे प्रमाणपत्र पाया था। उक्त नाटक के 'अद्वैत' नामक सातवें अंक में इस घटना का उल्लेख है। इस ग्रंथ की सबसे पुरानी प्रति संवत् १७४३ वि० की लिखी 'खोज' में मिली है।[4] दूसरी प्रति संवत् १७५१ वि० की लिखी काशी नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में है, जिसमें केवल सप्तम अंक ही है और वह भी आरंभ में त्रुटित।[5] इस ग्रंथ में कवींद्राचार्य के वर्णन की शब्दावली 'योगवासिष्ठसार' की शब्दावली से बिलकुल मिलती है। अतः उस पर विचार कर लेना चाहिए। सप्तम अंक का आरंभ इस प्रकार है—

कृष्ण कथा सुनि स्रोतिन के समम्भिवार सब हे सब पि...के।
लछीराम कवि इहि बिधि कही सुधबुध सुनत काहु नहिं रही ॥१॥
तब कबिंद्र सुरसति संन्यासी। पंडित ज्ञानी कासी बासी।
सास्तर बेद पुरान बखाने। अरथ उपनिषद अनुभव जाने ॥२॥[6]
......आदि।

दूसरे छंद के चारों चरण 'योगवासिष्ठसार' के तीसवें छंद से अत्यधिक मिलते हैं।[7] 'नाटक' का अंतिम छंद है—

१—कवींद्राचार्य सूचीपत्र, इंट्रोडक्शन, पृष्ठ ६।
२—वही।
३ इस ग्रंथ में कृष्ण के राधा और गोपियों से कुरुक्षेत्र के मैदान में मिलने का वर्णन है।
४ हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज रिपोर्ट, सन् १६००, संख्या ७४।
५—याज्ञिक-संग्रह, बस्ता-संख्या ३६, ग्रंथ-संख्या ८१२।
६ श्री द्वारकेश पुस्तकालय, विद्याविभाग, काँकरौली की प्रति से। बस्ता-संख्या ३०, ग्रंथ ८।
७—देखिए ऊपर पृष्ठ ७८ का उद्धरण।

यौं कवेंद्र सरस्वती रिझाए। गाए बचन बेद के गाए।
जब कवेंद्र यौं लई परीछ्या। तब जानी सतगुरु की सिछ्या ॥३४॥[1]

पुस्तकालय

कवींद्राचार्य का पुस्तकालय बहुत बड़ा था। श्री आर० अनंतकृष्ण शास्त्री इसकी खोज की ओर विशेष आकृष्ट थे। जिस दिन पं० गंगानाथ झा के मुख से उन्होंने इस पुस्तकालय की सूची प्राप्त होने का समाचार जाना, वे फूले न समाए। गूँगे के गुड़ की भाँति वे अपनी प्रसन्नता व्यक्त न कर सके।[2] निश्चय ही वह सूची अद्भुत है। उस सूची से बहुत से ऐसे ग्रंथों का भी पता लगा है जिनका किसी को अब तक ज्ञान न था। उनके पुस्तकालय में ग्रंथों का अद्भुत संग्रह था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि कवींद्राचार्य चुनो हुई पुस्तकों का ही संग्रह करते थे। जिन जिन पुस्तकों पर कवींद्राचार्य के हस्ताक्षर हैं या जो जो उनके पुस्तकालय की हैं वे अपने पाठों के लिये प्रामाणिक मानी जाती हैं।

'कवींद्राचार्य सूचोपत्र' मराठी भाषा में है। श्री शास्त्री महोदय का कथन है कि यह सूची कवींद्राचार्य की मृत्यु के बाद बनी,[3] क्योंकि इसमें कुछ ऐसे ग्रंथों का भी उल्लेख है जो कवींद्राचार्य के बाद बने, जैसे भास्करराय की रचनाएँ। साथ ही उनको ऐसे ग्रंथ भी मिले हैं जिनपर कवींद्राचार्य का नाम लिखा है, किंतु वे इस सूची में नहीं हैं। सूची चाहे बाद में बनी हो या पहले, पुस्तकालय का महत्त्व तो स्पष्ट है ही।

इस सूची में हिंदी के भी कुछ ग्रंथ हैं, जिन्हें सूचीकार ने 'हिंदुस्थानी भाषेचा' कहा है। जैसे—'१०११ हिंदुस्थानी भाषाकृत ग्रंथ वैद्यक; १०१३ वैद्यविद्वज्जनोल्लास ग्रंथ हिंदुस्थानी भाषेचा'। 'हिंदी' के लिये 'हिंदुस्थानी' का यह बहुत पुराना प्रयोग है। 'देशभाषाज्ञान' (२११५) नामक ग्रंथ का भी इसमें उल्लेख है।

अकबरी दरबार के नरहरि महापात्र ने जिन केशवभट्ट[4] की बड़ी प्रशंसा की है इस सूची में उल्लिखित केशवभट्ट स्यात् वे ही हैं। उनके कई ग्रंथों का उल्लेख इस सूची मे है। जैसे, केशवभट्टकृत (५०३) 'अंत्येष्टिप्रयोग', (७४४) 'संहिताहोमविधि'। इसके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी बातें इस सूचीपत्र में हैं जिनका उल्लेख विस्तारभय से यहाँ नहीं किया जाता।

कवींद्राचार्य सरस्वती जैसे संस्कृत के महत्त्वशाली व्यक्ति हैं वैसे ही हिंदी के भी। उनका वृत्त ज्ञात होने से राजनीतिक इतिहास की भूली हुई एक विशिष्ट घटना भी प्रकट हो गई। साहित्य के इतिहास में तो बहुत कुछ जुड़ गया।

१—याज्ञिक-संग्रह, बस्ता ३६, ग्रंथ ८१२। संवत् १७५१ वि० की प्रति।
२—देखिए कवींद्राचार्य सूचीपत्र, इंट्रोडक्शन, पृष्ठ १-२। ३—वही, पृष्ठ १२।
४—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक ३-४; पृष्ठ १२६।

कुछ शब्दों का व्युत्पादन

श्री बलदेवप्रसाद मिश्र

मंदुरा-मर्कट

श्रीहर्षदेवरचित 'रत्नावली' (अंक २) में एक श्लोक है—

कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः श्रृङ्खलादाम कर्षन् ,
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः ।
दत्तातङ्कोऽङ्गनानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः ,
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः ॥

[यह मंदुरा का बंदर नृप-मंदिर में घुस रहा है। गले में बँधी सोने की सिकड़ी इसने कुतर डाली है; बची सिकड़ी को जमीन पर घसीटते लिए जा रहा है। इसने कई दरवाजे पार कर लिए है, इसके पैरों में बँधी किंकिणियाँ बज रही हैं। इसने महल के भीतर की अंगनाओं में आतंक उत्पन्न कर दिया है। घोड़ों की देखरेख करनेवाले संभ्रम से इसे पकड़ने को इसके पीछे पीछे जा रहे हैं।]

महाकवि राजशेखर कृत 'विद्धशालभंजिका' (अंक १) में यह पंक्ति है—

एसो उण मंदुरा-मक्कटो टप्परकण्णो नाम ।

[टप्परकरण नामक यह मंदुरा-मर्कट है।]

मंदुरा-मर्कट के उल्लेख के दो चार उदाहरण और भी दिए जा सकते है। पर हमारा काम इन्हीं दो उल्लेखों से चल जायगा। इनसे यह सिद्ध है कि मंदुरा अर्थात् अश्वशाला में बंदर (कम से कम एक) अवश्य रहता था। पहले उल्लेख में मंदुरा-मर्कट को पकड़ने 'अश्वपाल' दौड़ रहे हैं; इससे यह भी सिद्ध है कि मंदुरा-मर्कट के पालन-पोषण, उसकी रक्षा आदि का भार अश्वशाला के अधिकारियों पर ही रहता था और वह मर्कट पूर्णतया अश्वशाला की संपत्ति होता था।

घोड़ों के साथ बंदर रखने का क्या प्रयोजन ? इसके उत्तर के लिये बहुत साधारण समझी जानेवाली, पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'पंचतंत्र' की एक कथा का कुछ अंश देखना पड़ेगा, जो 'पंचतंत्र' के 'अपरीक्षित कारक' मे है।

"किसी नगर के राजा का नाम चंद्र था। उसके पुत्र वानर-क्रीड़ा बहुत पसंद करते थे, अतः उन्हें खूब खिलाते पिलाते थे। धीरे धीरे वहाँ बंदरों का झुंड ही बस गया। उस झुंड का सरदार बंदर 'शुक्र', 'बृहस्पति' एवं 'चाणक्य'-नीति का पंडित भी था, जो उन्हें काम में भी लाता था और लोगों को पढ़ाता भी था।

"राजा के कुमारों की सवारी के लिये मेष भी पाले गए थे। उनमें से एक राजा के रसोईघर में घुसकर जो भी मिलता, खा जाता था। रसोइये क्रुद्ध हो जो चीज भी हाथ लग जाती उसी से मेष को मार भगाते थे।

"सरदार बंदर ने यह देखकर सोचा कि इस मेष के कारण हम सब बंदरों का क्षय हो जायगा; क्योंकि न यह मेष रसोईघर में घुसना छोड़ेगा, न रसोइये मारना छोड़ेंगे। मेष बहुत लोलुप है और रसोइये महा क्रोधी। यदि किसी दिन रसोइयों को कुछ न मिला तो वे जलती लकड़ी से मेष को मारेंगे और इसके रोएँ जलने लगेंगे। तब यह मेष बगल की ही अश्वशाला में घुस जायगा। वहाँ सूखी घास बहुत है, वह जलेगी और घोड़े भी जल जायँगे। अश्व-वैद्य कहेगा कि बंदरों की चरबी लगाने से घोड़ों के जलने का घाव अच्छा होता है, तब सब बंदर पकड़े जायँगे। यह सोचकर उस सरदार बंदर ने अपने दल के बंदरों से कहा कि भाई, यहाँ रहना छोड़ो, जंगल में चलो।"

यह रहस्य है बेचारे मंदुरा-मर्कट का! आवश्यकता पड़ने पर खोजना न पड़े, अतः पहले से ही अश्वशाला में 'मर्कट' रखे जाते थे।

बोरुका

स्लेट और विलायती निबों के चलन के पहले सभी बच्चों को लिखना सिखाने के लिये लकड़ी की पट्टी, बोरुका (मिट्टी की दवात, जिसमें खड़िया घोली जाती है) और नरकट का कलम दिया जाता था। अब भी पुराने विचारों के गुरुओं के यहाँ, विशेषतः पुराने ढंग की महाजनी चटसालाओं में, ये ही चीजें बरती जाती हैं।

लिखना सिखाने की यह प्रथा अवश्य ही बहुत प्राचीन है। इसमें महाकवि राजशेखर साक्षी हैं। 'विद्धशालभंजिका' मे विदूषक चंद्र-वर्णन करते हुए कहता है—

ससि-बोलआहिं ढलिओ जोण्हा-खडिआ-रसो मसीकुणइ णक्खत्तक्खर-मालं णह-फलए तिमिर-कज्जलिए।

[शशि-बोलआ से ढुलका ज्योत्स्ना-खड़िया-रस मलिन कर रहा है नक्षत्र-अक्षर-माला को, नभ-फलक पर, (कैसा नभ-फलक?) तिमिर-कज्जलित (पर)]

देखिए, शशि है बोलआ = बोरुका। ज्योत्स्ना = खड़िया का रस = मसी। नक्षत्र = अक्षर। नभ = फलक = पट्टी।

एक बात पहले नहीं कही गई है। वह यह कि पट्टी 'कारिख' लगाकर 'घोट' ली जाती है, जिसमें अक्षर चटक आएँ।

अब संपूर्ण दृश्य देखिए। सायं होते ही अंधकार ने आक्रमण किया, वह नभोमंडल पर जम बैठा। यह नभ रूपी पट्टी 'घोटी गई'। उसमें जो अस्तव्यस्त तारे निकले वे बच्चे के लिखे अक्षर हैं। तत्पश्चात् चंद्रोदय हुआ, चंद्र का संपूर्ण यौवन-काल आया और

तारे मलिन हो गए। मानों दवात से खड़िया अक्षरों पर गिर पड़ी और वे मलिन हो गए। कैसी अद्भुत सूझ है और कितनी मनोहारिणी! साथ ही विदूषकोक्ति होने के कारण कितने साधारण स्थल से चुनी गई है!

महाकवि राजशेखर ईसा की नवीं शती के आसपास के माने गए हैं। इस हिसाब से यह प्रथा हजार वर्ष से ऊपर की हुई। मगर यह अवश्य ही राजशेखर से भी पुरानी है। इसी लिये यह प्रथा हजारों वर्ष पुरानी मानी जा सकती है। आनंद की बात यह है कि राजशेखर का 'बोलआ' ही 'बोलका' के रूप में जीवित है; पर खेद यह है कि 'स्वान' और 'पार्कर' से हृष्ट चित्त व्यक्ति उससे उदासीन हो गए हैं और अपने बच्चों से, कुछ दिनों के लिये भी, उसका परिचय उचित नहीं समझते।

साँवर-गोरिया

बनारस और मिर्जापुर की कजलियों में 'साँवर गोरिया' शब्द की भरमार रहती है। साधारणतः इन शब्दों में विरोधाभास नहीं विरोध ही है; जो साँवली है वह गोरी कैसे? इन शब्दों में विरोधाभास माननेवालों का कथन यह होगा कि 'गोरी' का अर्थ 'सुंदरी' है। इसके दो प्रमाण यथेष्ट होंगे—

तीखा तुरय न माँडिया भड़ सिरि खग्ग न भग्गु।
एह जनम नग्गउँ गयउ गोरी कंठ न लग्गु॥

तथा

तौ लौं आप गहिर गहाइ गयौ गोरी सौं।

उत्तर यह होगा कि 'गोरी' का अर्थ 'सुंदरी' मानने से 'साँवली सुंदरी' में कवि-समय-विरुद्धता होगी, क्योंकि कवियों ने नायक को श्याम और नायिका को पीत या गौर मान लिया है।

विरोधाभास पक्षवाले कहेंगे कि कवि-समय आदि तो उच्च साहित्य की बातें हैं, कजलियों से उनका क्या संबंध! इसका उत्तर यह है कि यदि वहाँ भी सच्चे साहित्य की पाबंदी पाई जाय तो दोष क्या? वह तो साहित्य का गौरव ही है!

इस संबंध में निवेदन यह है कि 'साँवर' या 'साँवली' का अर्थ भी 'सुंदरी' ही है। इसके लिये ईसा की सातवीं शती के अंत और आठवीं के प्रारंभ में वर्तमान कवि वाक्पति के 'गउडवहो' काव्य की ६०१ संख्यक कविता देखिए—

इह हि हलिद्दा-हय-दविड-सामली-गण्ड-मण्डलानीलं।
फलमसअलपरिणामावलम्बि अहिहरइ चूयाण॥

संस्कृत छाया—

[इह हि हरिद्रा-हत-द्रविड-श्यामली-गण्ड-मण्डलानीलम्।
फलमसकलपरिणामावलम्बि अभिहरति चूतानाम्॥]

उक्त काव्य के टीकाकार ने 'हय' का संस्कृत पर्याय 'विच्छुरित' और 'सामली' का 'सुंदरी' दिया है। कवि अधपके आम का वर्णन करता हुआ कहता है कि वह द्रविड़ देश की सुंदरी के हलदी लगे कपोल जैसा है।

यहाँ यदि 'श्यामली' का अर्थ 'साँवली' ही लिया जाय तो व्यर्थ होगा, क्योंकि वह तो 'द्रविड' शब्द की व्यंजना है ही। 'अतः सुंदरी' अर्थ ही समीचीन है।

ब्रजभाषा के बहुत से कवियों ने 'साँवरी' और 'गोरी' शब्दों को 'सुंदरी' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। यही परंपरा ग्राम-गीतों तक में पाई जाती है।

कृष्ण या 'साँवरे' का रंग वही होने के कारण वह रंग भी प्रिय हो गया, उस रंग की सब वस्तुएँ स्पृहणीय हो गईं। इस विषय की बंगाली भक्त कवियों की बहुत सुंदर रचनाएँ हैं। पद्माकर की 'साँवरे पै चली साँवरी ह्वै कै' पंक्ति में भी यही संकेत है।

इसी भावना के विस्तार से 'नायिका' या 'सुंदरी' को भी 'साँवरी' कहा जाने लगा।

अब आप (विरोधाभासवाले) 'साँवर गोरिया' में 'सुंदरी' की पुनरुक्ति मानें तो हम यह निवेदन करते हैं कि यह दोष 'रस' का विघातक नहीं है। अतः आप पुनरुक्ति न मानकर इसे द्विरुक्ति मान लें और उसका अर्थ अतीव सुंदरी कर लें। यदि वह न रुचे तो पुनरुक्ति ही सही !

समीक्षा

मिट्टी की ओर—लेखक-श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'। प्रकाशक—उदयाचल, पटना। मूल्य ४)।

प्रस्तुत पुस्तक में 'दिनकर' जी के समीक्षात्मक निबंध और भाषण संगृहीत हैं। अपनी कविता में जिस युग-चेतना का अंकन दिनकर जी ने किया है और जो वर्तमान हिंदी-कविता की सामान्य धारा हो रही है, उसी की संवर्धना तथा विवेचना का विस्तृत प्रयास इसमें किया गया है। पुस्तक का पहला निबंध 'इतिहास के दृष्टिकोण से' में छाया-वाद तथा वर्तमान कविता की प्रगतिवादी धारा के ऐतिहासिक विकास का विचार है। छायावाद के प्रारंभिक काल में ही उसके प्रति प्रतिक्रियात्मक दृष्टि रखनेवाले साहित्यिक महारथियों को व्यंग्य-बौछारों तथा उसके पोषकों की चर्चा से उस युग के कवियों को कितने संघर्ष का सामना करना पड़ा, इसका अनुमान लग जाता है। छायावाद को उन्होंने वैयक्तिक स्वातंत्र्य की व्यंजना माना है। छायावाद रहस्यवाद का भेद दिखलाते हुए रहस्यवाद को ज्ञानाकुल भक्त का गुण कहा है। छायावाद की असंगतियों के संबंध में एक मत नहीं है। उसे एकदम पलायनवादी करार देना वास्तविकता की उपेक्षा करना है। छायावाद-युग के प्रमुख युग-प्रवर्तक कवि श्री निराला की व्यापक दृष्टि दैनिक वास्तविकताओं की ओर बराबर रही। उन्होंने उनको काव्य के रूप में ढाला भी। छायावाद-युग की देन को दिनकर जी ने पूरी ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है। उसकी उपेक्षा से खिन्न होकर वे लिखते हैं—"दुःख है कि इस विशाल सांस्कृतिक जागरण को उचित समय पर उचित आलोचक न मिल सका, जिसका वह अधिकारी था।" प्रगतिवाद को वे छायावाद का ही परिपाक मानते हैं और कहते हैं कि प्रगतिवाद के नाम पर जो सुंदर रचनाएँ लिखी गई हैं उनके लिये शैली छायावादी ही ग्रहण की गई है। लेख के उत्तरार्ध में कल्पना-लोक को छोड़ धरती की ओर आनेवाले कवियों—बच्चन, नरेंद्र, अंचल, नेपाली आदि—की प्रवृत्तियों का निरूपण हुआ है। 'तार-सप्तक' में संगृहीत रचनाओं को एक नए उत्पात का प्रारंभ मानना ठीक नहीं है। इसमें संगृहीत रचनाएँ प्रायः आज से बारह, चौदह वर्ष पहले की लिखी हुई हैं।

'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' में कला के लिये कला के नारे का पूर्ण खंडन है। कला को सोद्देश्य मानते हुए भी दिनकर जी इसे 'वाद' विशेष की संकीर्ण सीमा में बाँधना कभी स्वीकार नहीं करते। जहाँ वे कलाकार की तटस्थता का प्रश्न छेड़ते हैं वहाँ मतैक्य के लिये स्थान नहीं रह जाता। उन्हें कलाकार की तटस्थता में विश्वास नहीं है। इसकी यथार्थता की परीक्षा के लिये मैं निराला जी के निर्लिप्त व्यक्तित्व तथा

उनकी काव्यगत तटस्थता की ओर इंगित कर देना ही अलम् समझता हूँ। 'वर्तमान-काल की प्रेरक शक्तियाँ' में वे लिखते हैं—"मैं तो काल का चारण हूँ और उसी के संकेत पर जीवन की टिप्पणियाँ लिखा करता हूँ।" ऐसा करने में वे कला का पल्ला कभी नहीं छोड़ते। 'हिंदी कविता और छंद' महत्त्वपूर्ण निबंध है। इसमें हिंदी में प्रयुक्त छंदों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। अधिकांश छंदों की विशेषताओं का उद्घाटन इसे और भी उपयोगी बना देता है।

'प्रगतिवाद—समकालीनता की व्याख्या' में उन्होंने बतलाया है कि प्रगतिवाद में समकालीन समस्याओं की व्याख्या रहती है। कवि का कार्य सिद्धांतों का विवेचन नहीं है, प्रत्युत उसे तो उन अवस्थाओं का काव्यात्मक स्वरूप उपस्थित करना है जिनके कारण राजनीति के सिद्धांतों का निर्माण होता है। हमें अपनी अनुभूतियों को कुछ विशेष विषयों तक ही परिमित नहीं करना है वरन् उन्हें विस्तृत बनाकर उनके भीतर आज की पीड़ा, आकांक्षा को भी उचित स्थान देना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी स्वीकार किया है कि प्रगतिवाद ने अभी विषय में उत्क्रांति की है, उसके अनुरूप उसे अभी शैली नहीं प्राप्त हो सकी है। समीक्षा के क्षेत्र में वे एक मानदंड के समर्थक नहीं हैं। नपी-तुली प्रक्रियाओं के साथ हम कलाकार के साथ न्याय नहीं कर सकते। जहाँ अनुभूति के क्षेत्र को वे विस्तार देने की बात करते हैं वहाँ कविता के लिये छंद का बंधन अनिवार्य मानकर उसे एक सीमा में बाँध देते हैं। परंतु विश्व की अनेक श्रेष्ठ रचनाएँ मुक्त छंद में लिखी गई हैं। आज मुक्त छंद भावाभिव्यंजन का प्रधान माध्यम मान लिया गया है। कवि के लिये शब्दों की परख वे अत्यावश्यक मानते हैं। साहित्य में राजनीति की प्रभुता उन्हें स्वीकार्य नहीं। वह शुद्ध कलाकार का उद्गार होता है। 'खड़ीबोली का प्रतिनिधि कवि', 'बलिशाला ही हो मधुशाला', 'श्री मैथिलीशरण गुप्त' और 'पं० माखनलाल चतुर्वेदी' पर स्वतंत्र निबंध हैं। 'कवि श्री सियारामशरण गुप्त' में गुप्त जी के काव्य की विशेषताओं का समीक्षात्मक उद्घाटन हुआ है।

अंतिम निबंध में भारत की मिट्टी की ओर से अपने प्रवासी कवि को अपनी ओर आने का आह्वान किया गया है। पुस्तक में विषय को विस्तारपूर्वक, सरल और सुबोध भाषा में समझाने का स्तुत्य तथा सुंदर प्रयत्न है। वर्तमान हिंदी-काव्य-धारा को समझने के लिये पुस्तक की उपयोगिता निर्विवाद है। —बच्चन सिंह

वीर नाविक महाजनक—रचनाकार—श्री राजनाथ पांडेय। प्रकाशक—श्री लक्ष्मी प्रकाशन मंदिर, गोरखपुर। मूल्य १)।

चंपू की भाँति गद्य-पद्य में लिखी गई यह प्राचीन भारत की एक कथा है। प्राचीन भारत के गौरव का चित्रण समय और देश दोनों की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। कथा में भारतीय नाविक-जीवन के अदम्य धैर्य और उत्साह का मनोहर विवरण दिया गया है। अंत में सगोत्र विवाह का भी वर्णन है। काव्य निराशावादियों को आशान्वित करनेवाला

है। कथा का अंत पूर्वांश के मेल में नहीं है। भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से रचना अच्छी है।
—वटेकृष्ण

अर्चना—प्रणेता—राजाराम श्रीवास्तव। प्रकाशक—न्यू लिटरेचर, २५७ चक, इलाहाबाद। मूल्य १॥)।

प्रस्तुत पुस्तक के गीतों में कवि को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। कुछ विशेष स्थलों में भाव-माधुरी और रमणीयता भी पाई जाती है, जो कृती के भविष्य के प्रति आशान्वित करती है। सामयिक विषयों के प्रति अधिक सहृदय होकर कवि हमारे धन्यवाद एवं स्वागत का पात्र अवश्य है। फिर भी भाषा में पर्याप्त परिमार्जन की आवश्यकता है।

एक पग—रचयिता—श्रीयुत शील। प्रकाशक—न्यू लिटरेचर, २५७ चक, इलाहाबाद। मूल्य १।)।

जीवन अनुभव है, वही जब हृदय का योग पा काव्य माध्यम से प्रस्फुटित होता है तब सर्जनात्मक कल्पना से विन्यस्त होकर सत्साहित्य की संज्ञा प्राप्त करता है। प्रस्तुत रचना पर यह परिभाषण प्रशंसनीय ढंग से चरितार्थ हुआ है। इस प्रकार 'कल्पना के हंस', 'वेश्या', 'ऊर्ध्वगामी' इत्यादि कुछ कविताएँ काफी अच्छी बन पड़ी हैं। बुद्धि-तत्त्व का कलात्मक अनुष्ठान इन रचनाओं की विद्रोही भावनाओं को प्रेय का श्रेय देने में समर्थ हुआ है। फिर भी 'कल्पना के हंस', 'वेश्या' तथा 'अपने देश से' कविताओं का छंद काव्य-मर्यादा (कविता-स्वरूप) के लिये हितकर नहीं कहा जा सकता, भले ही इसके आश्रय में वाणी में ओज एवं प्रखरता क्यों न विकसित हुए हों। कुछ अति साधारण कविताओं के संगृहीत हो जाने पर भी पुस्तक स्वागत योग्य है।—भिक्खु

तुलसी—लेखक—रामेश बेदी आयुर्वेदालंकार। प्रकाशक—हिमालय हर्ब्स इंस्टिट्यूट, बादामी बाग, लाहौर। मूल्य २)।

यह पुस्तक उपयोगी ही नहीं, वरन् बहुत ही रोचक भी है। इस पौधे के भिन्न भिन्न भाषाओं में जो नाम हैं, इसकी जो भिन्न भिन्न जातियाँ हैं और जहाँ जहाँ पर यह पौधा जिस रूप में मिलता है, इस पुस्तक में इन सबका विधिवत् वर्णन है। हमारे देश में तुलसी का बहुत मान है। कुछ लोग इसको चाय के स्थान पर उबालकर पीने लग गए हैं। जन साधारण मलेरिया ज्वर में इसका प्रयोग करते भी देखे जाते हैं। लेखक ने अनेक रोगों में इसको लाभदायक बतलाया है। जैसे—बवासीर, दाद, शूल, इत्यादि। लेखक ने प्रमाण रूप में संस्कृत के श्लोक भी उद्धृत किए हैं।

इस ग्रंथमाला—भारतीय द्रव्य, गुण ग्रंथमाला—का निकालना वनस्पतियों तथा भोजन-द्रव्यों पर खोजपूर्ण तथा प्रामाणिक साहित्य निर्माण करने का नया आयोजन है। त्रिफला, अंजीर तथा सोंठ आदि पर पुस्तकें निकल चुकी हैं। इन पुस्तकों का आधार गंभीर अध्ययन तथा विस्तृत अनुभव है, क्योंकि लेखक स्वयं एक प्रतिष्ठित और विद्वान् वैद्य हैं। ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रत्येक गृहस्थ के पास होना चाहिए। —राम

'सभा' की नवीन पुस्तकें

भारतीय वास्तु-कला

(लेखक—श्री परमेश्वरीलाल गुप्त)

हिंदी में अपने ढंग की यह पहली पुस्तक है। इसमें नागरिक तथा धार्मिक वास्तु, स्तूप, स्तूप-भवन, विहार, मंदिर, मुसलमानी वास्तु-कला आदि विषयों की गंभीर मीमांसा है। विषय की स्पष्टता के लिये पच्चीस चित्र भी दिए गए हैं। मूल्य २) ।

हिंदी का सरल भाषा-विज्ञान

(लेखक—श्री गोपाललाल खन्ना एम० ए०)

यह सभी जानते हैं कि हिंदी में भाषाशास्त्र संबंधी ग्रंथ बहुत ही कम हैं। जो हैं उनमे भी विषय की स्पष्ट विवेचना की कमी है। यह पुस्तक इस कमी को पूरी करती है। इसमें भाषा-विज्ञान विषयक विवेचना, भाषा तथा भाषण, भाषाओं का वर्गीकरण, हिंदी का शास्त्रीय विकास, हिंदी का ऐतिहासिक विकास, हिंदी पर अनन्य भाषाओं का प्रभाव, साहित्यिक हिंदी की उपभाषाएँ, भारतीय लिपियों का विकास तथा प्रागैतिहासिक खोज की मीमांसा है। प्रागैतिहासिक खोज के विषय में इस पुस्तक में काफी सामग्री दी गई है। मूल्य २।) ।

भाषा-विज्ञान-सार

(लेखक—श्री राममूर्ति मेहरोत्रा एम० ए०, बी० एड्०)

'हिंदी का सरल भाषा-विज्ञान' की भाँति ही यह भी बहुत उपयोगी पुस्तक है। इसमे विषय की स्पष्टता के लिये काफी उदाहरण संकलित किए गए हैं। इसमें विवेचित विषय ये हैं—भाषा-विज्ञान और उसका महत्त्व, भाषा-विज्ञान का इतिहास, भाषा तथा भाषण का विकास, भाषाओं का वर्गीकरण, भाषा की परिवर्तनशीलता, ध्वनि-विचार, हिंदी-शब्द भांडार, रूप-विकार और उनके कारण। मूल्य २) ।

मुद्रक—बजरंगबली गुप्त, श्री सीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी ।

यंत्रालय में

रस-मीमांसा

(लेखक—स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

इसमें लेखक ने आधुनिक जिज्ञासा को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र और नवीन पश्चिमी मनोविज्ञान की पूरी छानबीन करके रस एवं भाव का निरूपण हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ के बाद से शास्त्राभ्यासियों ने एक प्रकार से रस-मीमांसा करनी छोड़ दी थी। अतः भारतीय रीति-शास्त्र मे आचार्य के इस ग्रंथ का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इसमे काव्य, विभाव, भाव, रस और शब्दशक्ति नामक ५ खंड है जिनके अंतर्गत १० अध्यायों में काव्यगत रस को सभी दृष्टियों से सम्यक् विवेचना की गई है। यह वही ग्रंथ है जिसके सैद्धांतिक मानदंड से सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की विशद और हिंदी-साहित्य की सामान्य स्वरूप-बोधक समीक्षा आचार्य ने प्रस्तुत की है तथा जिसकी प्रतीक्षा हिंदी-जगत् बहुत दिनों से कर रहा था।

लंका-दहन

(लेखक—स्वर्गीय श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश')

'ईश' जो भारतेंदु-युग के व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में से थे। उनकी काव्य-शक्ति से सभी परिचित हैं। 'लंका-दहन' उन्हीं का वीर रसपूर्ण अपने विषय का अभूतपूर्व काव्य है। इसमें संदेह नहीं कि यह हिंदी के वीर-काव्यों मे उच्च स्थान प्राप्त करेगा। मूल्य १॥)।